लेखक

अपनी बात

आज मुझे अवसर मिला है कि इन संस्मरणों के विषय में मैं अपनी ओर से कुछ लिखूँ। विश्वास है कि इस 'अवसर से' लाभ उठाना उचित होगा। यद्यपि मैं उन व्यक्तियों में नहीं हूँ जिन्हें दुनिया अपने अन्तर की छिपी हुई घृणा के साथ 'अवसरवादी' कहा करती है।

कुछ लोगों में यह प्रवृत्ति बहुत ही उच्छृङ्खल रूप में पाई जाती है कि वे उन आदमियों के पीछे आत्मविभोर से होकर भद्दे तरीक़े से घूमा करते हैं जिन्हें समाज 'बड़ा आदमी' कहकर सम्मानित करता है। यह दरबारी तरीक़ा यद्यपि कुछ अनोखा-सा ही लगता है; पर ईश्वर के इस अजायबघर में नाना आचार-विचार के जीवों की कमी नहीं। मैं ऐसे ठलुआ भाई से घृणा नहीं करता और न मेरे हृदय में उसके प्रति तनिक सी भी अश्रद्धा है। 'पिछलगुआपन' व्यक्तिगत् रूप से मुझे नहीं रुचता। जिन्हें यह आदत रुचिकर जान पड़ती है वे मेरी बातों पर ध्यान ही कब देंगे, जो मैं विचार की उच्च चूड़ा पर चढ़कर अपने मतामत की घोषणा करूँ।

एक संस्मरणलेखक के सामने जितनी तरह की मनहूस कठिनाइयाँ
खाई के रूप में मौजूद रहती हैं उनसे मेरा परिचय है। और मैं
अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रत्येक कठिनाई का आकार इतना कठोर
है कि उसे पैरों से रौंदा नहीं जा सकता। मानवप्रकृति तो जन्म से
ही संघर्षशील होती है। वह अपने सामने की एक भी बाधा को,
चाहे वह कितनी ही दुर्धर्ष क्यों न हो, साकार छोड़ना नहीं चाहती।
यही कारण है कि संस्मरण लिखने के मार्ग में जिन कठिनाइयों की
सम्भावना मैंने देखी, उन पर प्रहार किया और प्रयत्न किया कि मुझे
साफ़ और निरापद, खुला हुआ, हरा-भरा मैदान मिले, ताकि मेरी
गति में खींचातानी पैदा होने न पावे।

एक संस्मरणलेखक के सामने दो परस्पर विरोधी बातें अनिवार्य्य रूप
से वलपूर्वक उपस्थित हो जाती हैं। पहली बात है उसके पात्र की चरित्र
की गहनता। और दूसरी बात है उसका अपना निजी व्यक्तित्व। संस्मरण
तो प्रायः उन महानुभावों के ही लिखे जाते हैं जो अपने विषय
में संस्मरणीय होते हैं। और कठिनाई तो यह है कि ऐसे व्यक्ति अपने
को स्पष्ट होने नहीं देते। अपने अन्तर के मज़बूत दरवाज़े को इस
ज़ोर से वे बन्द किये रहते हैं कि किसी भी हालत में बिना धोखा
दिये भीतर प्रवेश की झाँकी असम्भव हो जाती है। इस स्थिति में
संस्मरणलेखक बहुत दिनों तक केवल कुंडियाँ ही खड़काता रह
जाता है। सत्य की झांकी नहीं होती या यों कहिये कि उसे सत्य से
प्रयत्न करके दूर रक्खा जाता है। फिर अवस्था ऐसी पैदा हो जाती
है कि या तो लेखक संस्मरण लिखना ही बन्द कर दे, या अनुमान से
काम ले। पर अनुमान के विषय में यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा
सकता कि वह सोलहो आने सही उतरेगा ही। पानी में काली हँडिया
बहते देखकर हम वस्तुओं की कल्पना कर सकते हैं, यह सामान्य
और विशेष ज्ञान की बात है। क्षण-क्षण पर बदलनेवाली मानवीय

मति के सम्बन्ध में अनुमान से काम लेना ख़तरे से खाली नहीं। संस्मरण-लेखक अपनी आँखों का केमरा लिये रात-दिन सजग रहता है और अपने चरित्रनायक के चित्र पर चित्र लेता जाता है। कभी-कभी रद्दी चित्र भी उतर जाते हैं और कभी ऐसा भी होता है कि किसी मूल्यवान घटना का चित्र तनिक-सी भूल होने के कारण खिंचने से रह जाता है। इसका बहुत ही मर्मान्तक अनुभव मुझे डॉ० जायसवाल के संस्मरण लिखते समय हुआ, जिसकी चर्चा अब यहाँ पर व्यर्थ है।

कितना भी अच्छा "स्नैपशौर्ट" लेनेवाला फोटोग्राफर हो; पर उस हालत में, जब कि वह व्यक्ति जिसका वह चित्र लेना चाहता हो मन-ही-मन अपनी तस्वीर न उतारने देने का निश्चय कर चुका हो तो उस अभागे फोटोग्राफर की दुर्गति की सीमा नहीं रह जाती। पं० रामावतार शर्म्मा के संस्मरण लिखने में मुझे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन्हें मैं ही जानता हूँ। शर्माजी जितने बड़े पंडित थे, उतने ही बड़े मौजी भी थे। वे सदा यह प्रयत्न करने में तल्लीन रहते थे कि उन्हें कोई पहचान न पावे। यह बात ज़रूर है कि मैंने उन्हें नहीं पहचाना। किसी अतल-जल की थाह बगला नहीं लगा सकता। यह काम तो मछलियों का है। तट पर बैठकर समाधि लगाने-वाला बेचारा बगला क्या जाने कि इस शान्त और नयनमनोहर सरिता में कितना जल है! रामावतार जी के सम्बन्ध में मैं और क्या कहूँ!

अब दूसरी बात है संस्मरणलेखक के अपने निजी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में। संस्मरणलेखक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी में हैं विश्वविख्यात पत्रकार संत निहालसिंह जी। और मैं साहसपूर्वक कहूँगा कि दूसरी श्रेणी में हैं संसार के सर्वश्रेष्ठ सेक्रेटरियों में से एक श्रीमहादेव देसाई। संतजी जब संस्मरण लिखने बैठते हैं तो अपने चरितनायक की पृष्ठ-भूमि (बैकग्राउंड) के रूप में स्वयं उपस्थित रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अच्छे चित्रकार और कुशल लेखक पृष्ठभूमि

पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। क्योंकि यह बैक्ग्राउंड उस दृश्य को पूर्ण रूप से स्पष्ट करता है जिसका वह सच्चा और उपयुक्त बैकग्राउंड होता है। यह बात भी है कि ग़लत बैक्ग्राउंड दे देने से सारा दृश्य ही प्रभावशून्य हो जाता है और रस का कचूमर निकल जाना बहुत संभव है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि किसी दृश्य की पूर्णता का ज़बरदस्त दायित्व उसके बैक्ग्राउंड पर भी रहता है; क्योंकि वह उसका सहायक है।

संत निहालसिंहजी अपने चरित्रनायक के उन चित्रों के बैक्-ग्राउंड स्वयम् बनते हैं जिन चित्रों को वे अपने संस्मरणों में एक के बाद एक उपस्थित करते जाते हैं।

अब आयी श्रीमहादेव देसाईजी की बात!

एक महान् सेक्रेटरी होने के कारण उनका मन ही ऐसा हो गया है कि वे स्वयम् जनता के आगे आना अच्छा नहीं समझते। यह उनका आत्मसंगोपन है। परदे के पीछे रहकर सब कुछ करते हुए भी तटस्थ रहना उनकी अनेक विशेषताओं में से एक है। यही कारण है कि जब जब देसाईजी संस्मरण लिखने बैठते हैं तो इस बात के लिए कृत-संकल्प से नज़र आते हैं कि चाहे कुछ भी हो; पर वे अपनी झलक पाठकों को देखने न देंगे। इसका असर उनके चरितनायक पर भी पड़ता है और जो चित्र महादेव देसाईजी की लेखनी से उपस्थित होता है वह भी कुछ-कुछ सलज्ज-सा, झाँकता हुआ-सा, नज़र आता है।

ठीक इसके विपरीत संत साहब के चित्रों की स्थिर और स्पष्ट चमक दूर से ही आंखों में गुदगुदी पैदा कर देती है। अपने चित्रों में संतजी भी नज़र आते हैं। और आते हैं उसी रूप में जिस रूप में वे हैं। न कम और न आवश्यकता से अधिक। मैं कहूँगा कि मुझे संतजी के संस्मरण बहुत ही पसन्द हैं। और मैं यह भी कहूँगा कि इस कला के वे मेरे गुरुवत् हैं। मैंने संतजी के स्फूर्तिदायक और ओजमय संस्मरण

पढ़कर ही संस्मरण लिखने की प्रेरणा पाई है। अभी तो मैं लिखना सीख ही रहा हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा भाषाज्ञान बहुत ही निरीह-सा है और वह दयनीय भी है। मैं जो कुछ सोचता हूँ और जिस तरीक़े से सोचता हूँ, ठीक उसी तरह मेरी भाषा उसे व्यक्त नहीं कर पाती। या तो वह मुझे ललचाती है, या उसमें इतना बल ही नहीं जो सत्य को सत्य रूप में—और साथ ही तूफ़ानी ढंग—से व्यक्त कर सके। मैं अभागा बार-बार कलम पटकता हूँ और अनन्योपाय-सा कुढ़कर रह जाता हूँ।

मेरे कुछ योग्य और सर्वज्ञ मित्रों की राय है कि मैं अपने संस्मरणों में अपने आपको ख़ूब चित्रित कर देता हूँ। सम्भव है ऐसा हो जाता हो। सच्ची बात तो यह है मैंने आज तक अपने को छोड़कर और किसी को प्यार ही नहीं किया। मैं अपने ऊपर ही निसार हूँ। ऐसी दशा में मेरे लिए यह सम्भव नहीं कि मैं अपने आपको भूल जाऊँ।

किसी दर्शनशास्त्र में कभी मैंने पढ़ा था कि परमात्मा ने यह विश्वप्रपंच रचा और फिर वह अपनी ही रचना में तदाकार भी हो गया। मनुष्य कोई मामूली जीव नहीं, परमात्मा का ही एक परम प्रज्वलित रूप है। इसमें कौन सी बुराई है यदि मैं अपने ही संस्मरणों में तदाकार हो गया। मैं कोई कुम्हार नहीं, जो अपने ही बनाये हुए खिलौने से अलग रहता हुआ रात-दिन केवल चाक चलाया करूँ।

एक बात मैं बहुत ही ज़ोरों से महसूस करता रहता हूँ। और वह यह कि जिस लड़के को उसके बड़े-बूढ़े तारीफ़ करते रहते हैं वह काफ़ी शोख़ हो जाता है। यही दशा मेरी भी है, विद्यावयोवृद्ध स्व० जायसवाल जी और "सरस्वती"-सम्पादक पंडित देवीदत्तजी शुक्ल ने मेरे संस्मरणों की प्रशंसा कर-करके मुझे बहुत ही शोख़ कर दिया है। और अहंकार की झोंक में मैं तो यह भी सोचने लगा हूँ कि इस कला में मुझे कमाल हासिल है। यह बात कहाँ तक सही है सो तो मैं नहीं जानता। पर मेरे इन गुरुजनों के दुलार ने मुझे बहुत ही सिर

पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। क्योंकि यह बैकग्राउंड उस दृश्य को पूर्ण रूप से स्पष्ट करता है जिसका वह सच्चा और उपयुक्त बैकग्राउंड होता है। यह बात भी है कि ग़लत बैकग्राउंड दे देने से सारा दृश्य ही प्रभावशून्य हो जाता है और रस का कचूमर निकल जाना बहुत ही संभव है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि किसी दृश्य की पूर्णता का ज़बरदस्त दायित्व उसके बैकग्राउंड पर भी रहता है; क्योंकि वह उसका सहायक है।

संत निहालसिंहजी अपने चरित्रनायक के उन चित्रों के बैक्-ग्राउंड स्वयम् बनते हैं जिन चित्रों को वे अपने संस्मरणों में एक के बाद एक उपस्थित करते जाते हैं।

अब आयी श्रीमहादेव देसाईजी की बात!

एक महान् सेक्रेटरी होने के कारण उनका मन ही ऐसा हो गया है कि वे स्वयम् जनता के आगे आना अच्छा नहीं समझते। यह उनका आत्मसंगोपन है। परदे के पीछे रहकर सब कुछ करते हुए भी तटस्थ रहना उनकी अनेक विशेषताओं में से एक है। यही कारण है कि जब जब देसाईजी संस्मरण लिखने बैठते हैं तो इस बात के लिए कृत-संकल्प से नज़र आते हैं कि चाहे कुछ भी हो; पर वे अपनी झलक पाठकों को देखने न देंगे। इसका असर उनके चरितनायक पर भी पड़ता है और जो चित्र महादेव देसाईजी की लेखनी से उपस्थित होता है वह भी कुछ-कुछ सलज्ज-सा, झाँकता हुआ-सा, नज़र आता है।

ठीक इसके विपरीत संत साहब के चित्रों की स्थिर और स्पष्ट चमक दूर से ही आंखों में गुदगुदी पैदा कर देती है। अपने चित्रों में संतजी भी नज़र आते हैं। और आते हैं उसी रूप में जिस रूप में वे हैं। न कम और न आवश्यकता से अधिक। मैं कहूँगा कि मुझे संतजी के संस्मरण बहुत ही पसन्द हैं। और मैं यह भी कहूँगा कि इस कला के वे मेरे गुरुवत् हैं। मैंने संतजी के स्फूर्तिदायक और ओजमय संस्मरण

पढ़कर ही संस्मरण लिखने की प्रेरणा पाई है। अभी तो मैं लिखना सीख ही रहा हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा भाषाज्ञान बहुत ही निरीह-सा है और वह दयनीय भी है। मैं जो कुछ सोचता हूँ और जिस तरीक़े से सोचता हूँ, ठीक उसी तरह मेरी भाषा उसे व्यक्त नहीं कर पाती। या तो वह मुझे ललचाती है, या उसमें इतना बल ही नहीं जो सत्य को सत्य रूप में—और साथ ही तूफ़ानी ढंग—से व्यक्त कर सके। मैं अभागा बार-बार कलम पटकता हूँ और अनन्योपाय-सा कुढ़कर रह जाता हूँ।

मेरे कुछ योग्य और सर्वज्ञ मित्रों की राय है कि मैं अपने संस्मरणों में अपने आपको ख़ूब चित्रित कर देता हूँ। सम्भव है ऐसा हो जाता हो। सच्ची बात तो यह है मैंने आज तक अपने को छोड़कर और किसी को प्यार ही नहीं किया। मैं अपने ऊपर ही निसार हूँ। ऐसी दशा में मेरे लिए यह सम्भव नहीं कि मैं अपने आपको भूल जाऊँ।

किसी दर्शनशास्त्र में कभी मैंने पढ़ा था कि परमात्मा ने यह विश्वप्रपंच रचा और फिर वह अपनी ही रचना में तदाकार भी हो गया। मनुष्य कोई मामूली जीव नहीं, परमात्मा का ही एक परम प्रज्वलित रूप है। इसमें कौन सी बुराई है यदि मैं अपने ही संस्मरणों में तदाकार हो गया। मैं कोई कुम्हार नहीं, जो अपने ही बनाये हुए खिलौने से अलग रहता हुआ रात-दिन केवल चाक चलाया करूँ।

एक बात मैं बहुत ही ज़ोरों से महसूस करता रहता हूँ। और वह यह कि जिस लड़के को उसके बड़े-बूढ़े तारीफ़ करते रहते हैं वह काफ़ी शोख़ हो जाता है। यही दशा मेरी भी है, विद्यावयोवृद्ध स्व० जायसवाल जी और "सरस्वती"-सम्पादक पंडित देवीदत्तजी शुक्ल ने मेरे संस्मरणों की प्रशंसा कर-करके मुझे बहुत ही शोख़ कर दिया है। और अहंकार की झोंक में मैं तो यह भी सोचने लगा हूँ कि इस कला में मुझे कमाल हासिल है। यह बात कहाँ तक सही है सो तो मैं नहीं जानता। पर मेरे इस गुरुजनों के दुलार ने मुझे बहुत ही सिर

चढ़ा लिया है। और मैं एक ज़िद्दी और शोख़ लड़के की तरह जब कलम से खेलना आरम्भ करता हूँ तो किसी की भी एक नहीं सुनता। मेरे लिखे संस्मरणों से इस शोख़ी की झलक मिलती है।

अब मैं उन सम्पादक महोदयों से हाथ जोड़कर क्षमायाचना करता हूँ जिन्होंने मेरे संस्मरण छापे और मैं बिना उनकी आज्ञा के ही उन्हें पुस्तकरूप में आज प्रकाशित करवा रहा हूँ।

सभी संस्मरण भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गये हैं, पाठक पढ़ते समय इस बात को न भूलें। अच्छा—विदा!

गया
जेठ शु० ५, ९७

वियोगी

विषय-सूची

आरती के दीप

बिहार-रत्न राजेन्द्रप्रसाद

(१)

विभीषण लंका से भगवान् राम के चरणों में आश्रय ग्रहण करने चला। निश्चय ही राक्षसराज भगवान् के सम्बन्ध में अनेक मधुर कल्पनाओं को अपने व्यग्र मन में भरकर चला होगा। सीतानाथ के रूप के सम्बन्ध में भी उसने एक काल्पनिक चित्र बनाया होगा, जो अत्यन्त लुभावना और उदात्त रहा होगा। कहीं ऐसा होता कि वह अपने आराध्यदेव को कुछ दूसरी ही सूरत में पाता। लम्बा दुबला शरीर, रंग काला और दो मोटे-मोटे काले होठों के ऊपर उलझी हुई अधपकी मूछें और दमा से बेज़ार, फटे चप्पल बुरी तरह घसीटते हुए राजीवलोचन राम उसका स्वागत करते और विभीषण देखता कि धौंकनी की तरह उनकी छाती चल रही है, दमा ज़ोर पर है और शारीरिक कष्ट से आँखें बेज़ार हैं तो इसमें सन्देह नहीं कि विभीषण को अपार मानसिक व्यथा होती। उसकी कल्पनासंभव मूर्ति तहसनहस हो जाती, जिसका उसे ऐसा मलाल होता कि वह 'हाय' करके जहाँ-का-तहाँ बैठ जाता।

जब सबसे पहली बार हमने राजेन्द्र बाबू को देखा, तब यही दशा अपनी भी हुई।

आज भी याद है। १९२२ का ज़माना था। गया में कांग्रेस होने जा रही थी। बहुत दिनों से हम अपने इस बिहार-रत्न के, विभीषण की तरह, भक्त हो चुके थे। मगर नज़दीक से देखने का पुण्य उदय

नहीं हुआ था। अख़बारों में उनका चित्र प्रायः देखा करते थे। अख़बारों के चित्रों पर से हमारी श्रद्धा उसी दिन लोप हो गई जब हमने राजेन्द्र बाबू को अपने सामने देखा।

कार्त्तिक का महीना था। आकाश और दिशायें स्वच्छ थीं। अन्तः सलिला फल्गु का सुरम्य तट और आम की घनी बारी की याद आज भी दिल को दुलार जाती है। संध्या हो रही थी। नदी के उस पार श्यामल वन-रेखा और उसके बाद पहाड़ियों की नीली क़तारें। दूसरी ओर पके धान के खेत, सुनहली धूप से चकमक करते हुए दिखाई दे रहे थे। ऐसे ही मनोरम स्थान में 'स्वराज्यपुरी' का निर्माण हो रहा था।

हाँ, संध्या हो रही थी और बसेरा लेनेवाली चिड़ियों के कलरव से सारा वनप्रान्त सजीव हो उठा था। हम 'स्वराज्यपुरी' में घूम रहे थे। बीच में जो चौक बनाया गया था, वहाँ तिरंगा झंडा शान से फहरा रहा था, मानो आकाश में तीन रंगों का एक साथ पैबन्द लगा दिया गया हो। हमने देखा. थके-से राजेन्द्र बाबू भी कुछ आदमियों के साथ निर्माणकार्य देख रहे हैं। हमारे एक साथी ने बतलाया कि यही बिहार-रत्न राजेन्द्रप्रसाद हैं। यह स्वीकार करते हुए हमें तनिक भी मलाल नहीं होता कि राजेन्द्र बाबू को देखकर हमारा हृदय बैठ गया। अच्छा होता यदि हम उन्हें देखते ही नहीं। सूखा-सा चेहरा और रोगी शरीर, दमे से बेज़ार। वे धीरे-धीरे चल रहे थे और हाँफ रहे थे। हम खड़े-खड़े अपने प्रान्त के पुरुषोत्तम को देखते रहे।

संध्या ने गोधूलि का रूप ग्रहण किया। चरागाह से लौटनेवाली गउओं के गले की घंटियों का शब्द संध्या के नीलमणि जैसे हृदय में भर गया। खेतों में से आनेवाली ठंडी हवा के हलके झकोरों में, दिन भर धूप में रहने के कारण, भीगी हुई घास की महक भर गई।

हम उदास हृदय से घर की ओर लौटे। हमारा मन न जाने क्यों आपसे आप भारी हो गया था। ऐसा लगता था कि हृदय के भीतर धुँधली-सी घटा भर गई है और हवा बन्द हो जाने के कारण बरसाती उमस फैल रही है।

(२)

विधाता के यहाँ शायद दो दफ़्तर हैं—एक में रूप बँटता है और दूसरे में ज्ञान। राजेन्द्र बाबू जब धरातल पर आने लगे, तब उन्हें भी नियमानुसार दोनों आफ़िसों में जाकर 'रूप' और 'ज्ञान' लाना पड़ा। हमें ऐसा लगता है कि अक़्ल की गठरी बाँधते-बाँधते कुछ अधिक विलम्ब हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि रूपवाला दफ़्तर बन्द हो गया। जब आप वहाँ से लौटे, तब देखते क्या हैं कि इस आफ़िस के दरवाज़े पर बड़े-बड़े ताले लटक रहे हैं। लाचार बेचारे के पास इतना समय नहीं था कि एक-दो दिन ठहरकर यह कमी भी पूरी कर लेते। उन्हें धराधाम पर केवल अक़्ल के साथ ही आ जाना पड़ा। इस भूल का संशोधन 'हिमानी स्नो', 'पामोलिव-साबुन' और 'सेफ़्टी रेज़र' से होना असम्भव है। अतएव राजेन्द्र बाबू ने मन लगा कर किताबों से ही आँखें लड़ाना उचित समझा। संसार में उनके लिए कोई दूसरी जगह नहीं थी, जहाँ उनकी आँखें लड़तीं। चटशाला से लेकर यूनिवर्सिटी की सर्वोच्च परीक्षा तक में वे सर्वप्रथम रहे। इसके बाद जब देश-सेवा की बारी आई, तब इस क्षेत्र में भी वे ज़रूरत से अधिक ही नम्बर लाये। एक साधारण कायस्थ-परिवार से ऊपर उठते हुए राजेन्द्र बाबू समस्त भारत के परिवार के आज मुखिया बन बैठे, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यद्यपि सिस्टर निवेदिता ने उनके विद्यार्थी-जीवन में ही यह कहा था कि "राजेन्द्र एक बड़ा नेता होगा," पर यह बात ग़ौर करने के क़ाबिल

है कि ईख से ही मीठा रस निकलने की भविष्यवाणी कोई भी कर सकता है। हाँ, सिस्टर निवेदिता की पैनी दृष्टि की प्रशंसा की जा सकती है। चम्पारन (विहार) में नील का जो आन्दोलन हुआ था और दक्षिण-अफ्रीका से लौटकर महात्मा गांधी ने जिसका श्रीगणेश किया था, उसी आन्दोलन ने राजेन्द्र बाबू को हाईकोर्ट के कठोर अस्थिपंजरों से खींचकर जनता के बीच में लाकर खड़ा कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी वकालत आँधी की चाल से चल रही थी और सरस्वती की दासी बनकर लक्ष्मी उनकी मेज़ पर थिरका करती थी। चंचला लक्ष्मी का आदर करना राजेन्द्र बाबू की प्रकृति के विरुद्ध बात थी। महात्मा जी ने पुकारा और राजेन्द्र बाबू हाई-कोर्ट के विशाल फाटक को प्रणाम करके कलकत्ता से सीधे चम्पारन पहुँच गये। विहार को उनकी ज़रूरत थी। जिस मिट्टी से शरीर बना, जिस आकाश के नीचे खेल-कूदकर आदमी बने, उस जननी जैसी जन्मभूमि की पुकार को राजेन्द्र बाबू सुनकर कैसे टाल जाते, जब कि ख़ासतौर से इसी काम के लिए वे यहाँ आये थे!

हम राजेन्द्र बाबू की जीवनी लिखना नहीं चाहते और न यही चाहते हैं कि उनकी महत्ता का बखान भाट बनकर करें। कस्तूरी की महक को शपथ खाकर प्रमाणित करना अपनी बुद्धि के साथ गुस्ताख़ी करना है। एक बात जब शुरू होती है तब उसके साथ कई बातें बेबुलाये चली आती हैं, जैसे फल के साथ छिलका, गुठली, रेशे आदि। पाठक, क्षमा कीजिएगा।

(३)

कांग्रेस समाप्त हो गई!

देशबन्धुदास ने कांग्रेस से विद्रोह किया और 'स्वराज्य-पार्टी' इस संघर्ष के फलस्वरूप पैदा हुई। इस नवजात शिशुपार्टी के लालन-पालन

का प्रयत्न होने लगा और हम फिर अपनी पुरानी डफली पर अपना निराला राग अलापने लगे।

'स्वराज्यपुरी' निर्जन हो गई। मज़दूरों की चहल-पहल आरम्भ हुई और बैलगाड़ियों पर चटाइयों के बंडल और लट्ठे लाद-लूदकर ठेकेदार जाने लगे। जहां देश भर के हुतात्माओं का मेला लगा हुआ था, वहां तिरंगे झंडे के लम्बे बांस पर बैठकर निर्जन दोपहरी में कौआ कांव-कांव करने लगा। दो दिन का 'चिड़िया-रैन बसेरा' था, जो देखते-देखते समाप्त हो गया।

वसन्त की सुषमा जब समाप्त हो गई, तब आया जेठ का हाहाकार। आग की फुलझड़ियाँ छोड़ता हुआ ग्रीष्म गरजने लगा। कटे खेतों और पहाड़ियों के कछारों में इसी समय हमारे पास एक सूचना पहुँची।

बौद्धों ने यह दावा कांग्रेस के सामने पेश किया था कि बुद्ध-गया में भगवान् बुद्ध का जो मन्दिर है उस पर बौद्धों का पूरा अधिकार होना चाहिए। बौद्धों के इस दावे की जांच करने के लिए कांग्रेस ने एक छोटी कमिटी बनाई थी। इस कमिटी में यदि मेरी स्मृति धोखा नहीं देती, तो हम कह सकते हैं कि तीन सज्जन थे—राजेन्द्र बाबू, ब्रजकिशोर बाबू और अब के बिहार की कांग्रेसी सरकार के अर्थमंत्री अनुग्रह बाबू। इसी कमिटी के सामने बयान देने के लिए हम बुलाये गये थे।

हम अपना बयान लिखवा रहे थे और ब्रजकिशोर बाबू लिख रहे थे। राजेन्द्र बाबू चुपचाप बैठे सुन रहे थे। जब हमें दस्तख़त करने के लिए बयान दिया गया, तब हमने उसे पढ़ना आरम्भ किया। भूल से एक वाक्य छूट गया था। हमने प्रार्थना की कि एक वाक्य छूट गया है; तब राजेन्द्र बाबू ने हमारे हाथ से बयान लेकर ख़ुद

पढ़ना आरम्भ किया और बिना हमसे पूछे वह छूटा हुआ वाक्य यथास्थान लिख दिया।

हम क़रीब एक घंटा तक बयान देते रहे और यह उनके स्थिर दिमाग़ की ख़ूबी थी कि उन्होंने प्रत्येक वाक्य को सुना, समझा और याद भी रक्खा। यह १७-१८ साल की पुरानी बात है। हम २० साल के एक चंचल नवयुवक थे और किसी बात को याद रखना हमारी आदत के ख़िलाफ़ बात थी। अल्हड़पन सीमा तोड़कर आवारागर्दी का रूप ग्रहण करना चाहता था; पर राजेन्द्र बाबू की इस मानसिक एकाग्रता ने, कुछ भी हो, हमें अज़हद प्रभावित किया। हमें अपनी चंचलता पर मन-ही-मन लज्जित होना पड़ा।

(४)

सौभाग्य ने ज़ोर मारा और फिर कई बार हमें राजेन्द्र बाबू के दर्शनों का सुअवसर मिला। यदि हम पूरा दास्तान लिखने बैठें तो इस लेख का आकार बढ़कर हनुमान जी की पूँछ का रूप धारण कर लेगा। हम नहीं चाहते कि अकारण अपने पाठकों के धैर्य की परीक्षा लेने की ग़लती करें। हम केवल तीन प्रधान घटनाओं की चर्चा करेंगे, जो हमारी समझ से काफ़ी दिलचस्प हैं।

क़रीब १२ साल हुए, मुंगेर में बिहार प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन का सालाना जलसा हुआ। जिस तरह ब्याह-शादी की धूमधाम बिना बाजे के पूरी नहीं होती, उसी तरह सम्मेलन भी बिना एक कवि-सम्मेलन के अधूरा ही रह जाता है। कवि-सम्मेलनों की व्यर्थता पर बहस करने हम नहीं बैठे हैं। पर इतना निवेदन करना उचित समझते हैं कि इस वाहियात काम में लोगों का मन ख़ूब लगता है। सही बात तो यह है कि मानव-प्रकृति ही ऐसी है कि वह बहुत समय तक उचित और गम्भीर काम में फँसे रहना कभी सहन नहीं

करती। व्यर्थ का धन्धा ही उसे रुचता है।

सम्मेलन में जो बालू पेरकर तेल निकाला जाता है उससे ऊबकर मन कवि-सम्मेलन में अपनी थकान मिटाता है। मुंगेर में इसी व्यर्थ के धंधे का प्रधानपद हमें दिया गया। हम इसी तरह का काम करके कानपुर से लौटे थे, पर सूचना मिली कि राजेन्द्र बाबू भी सम्मेलन में शरीक होंगे। यह आकर्षण कुछ कम न था। जेठ का महीना था और लू-लपट के मारे घर से बाहर निकलना कठिन हो गया था।

जब मैं रात को बारह बजे मुंगेर पहुँचा, तब एक दिल्लगी स्टेशन पर पहुँचते ही हुई। हम खाकी पैंट और हैट में थे और सभा के महानुभाव माला लिये गांधी-टोपी-धारी सभापति को इधर-उधर खोज रहे थे। हमारे सामने से सुगन्धित माला का थाल कई बार आया गया, पर किसी ने पूछा तक नहीं। जी चाहता था कि हम अपना नाम लेकर चिल्ला उठें, पर मन मसोसकर रह जाना पड़ा।

कवि-सम्मेलन के अवसर पर हमने राजेन्द्र बाबू को देखा। जो रूप गया-कांग्रेस के अवसर पर देखा था, वही था। फ़र्क़ इतना ही था कि दमा दबा हुआ था। हम जानते थे कि राजेन्द्र बाबू एक बड़े नेता हैं। उनका व्यक्तित्व भी हिमालय की तरह महान् है। हमारे जैसे एक अख्यात हिन्दी-सेवक के विषय में जानना उनके लिए ज़रूरी नहीं है। पर उस समय हमारा यह भ्रम दूर हो गया, जब उन्होंने हमारे नाम का प्रस्ताव सभापति-पद के लिए किया। इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने प्रान्त के प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के विषय में पूरी जानकारी रखना ज़रूरी समझते हैं जिसके सम्बन्ध में जानना वे ज़रूरी समझते हों। उन्होंने अपने भाषण में हमारे लिए जो शब्द काम में लाये वे शब्द हम आज तक नहीं भूल सके। हम यह समझ रहे थे कि राजेन्द्र बाबू की महत्ता शब्द बन बन-कर उनके मुँह से निकल रही है,

वर। हम इस योग्य नहीं थे कि वे हमारे लिए ऐसे विचार प्रकट करते।

संध्या के बाद जब राजेन्द्र बाबू की सेवा में उपस्थित हुए तब उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"अच्छा हुआ जो तुम आ गये।" हमने निवेदन किया—"आपके दर्शनों की जो भूख थी, वह मिटी। हमारे लिए ज़रूर अच्छा हुआ जो यहाँ आये, कवि-सम्मेलन की बात परमात्मा जाने।"

और भी बहुत-सी बातें हुईं, जिनकी चर्चा यहाँ पर व्यर्थ है। जैसे-जैसे हम राजेन्द्र बाबू को नज़दीक से देखते गये, हमारी आँखों के सामने उनकी महत्ता निखरती गई।

(५)

चार साल बीत गये!

इन चार वर्षों की लम्बी दौड़ कैसे समाप्त हो गई, यह पता नहीं चलता। चार-चार बार ग्रीष्म वसुधा को धूल से भर गया और चारों बार वर्षा ने इठला-इठलाकर उसे धो डाला। प्रकृति हँसती-खेलती आई और चली गई, पर हम अपने जीवन के उलझे हुए सूत को एकाग्र मन से बैठे सुलझाते ही रहे। वसन्त ने हमारे सामने सौरभ का बाज़ार लगाया, ग्रीष्म का ताण्डव देखा और फिर वर्षा की धानी चूनरी धरित्री के आँगन में लहराने लगी। इधर हमने क्या किया? जीवन का दुर्वह भार लादे अतीत के नाम पर आँसू बहाते रहे। वर्तमान को अपने अनुकूल बनाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहे और भविष्य पर अधिकार प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के ऊधमों की सृष्टि करते रहे। एक-एक पल करके चार साल बीत गये और जहाँ थे वहीं से हमने खड़े-खड़े देखा, घाट पर की नावों में से बहुत-सी पाल तानकर असीम सागर-तरंगों

से खेलती हुई आँखों से ओझल हो गईं। हम खूँटे की तरह एक ही जगह गड़े हुए यह आशा किया करते हैं कि कोई अभागा जीव आकर हममें बँधे, तो उसके उछलने-कूदने से तनिक-सा मनोरंजन तो हो।

ख़ैर, चार साल पहले हम पटना गये और वहीं कुछ दिनों तक जमे भी रहे। स्वर्गीय जायसवाल जी एक पुस्तक लिखना चाहते थे और उसी पुस्तक के निर्माण का सुख सपना देखते हुए हम भी पटना की गंगा में दोनों जून गोते लगाया करते थे।

हमारे एक परिचित राजा साहब की कोठी भी पटना में ही थी और विहार का राजनैतिक हृदय 'सदाक़त-आश्रम' भी पटना में ही है। हम अपने पाठकों का पटना की ख़ास-ख़ास इमारतों से परिचय कराना नहीं चाहते, पर जो नाटक होनेवाला था उसका सम्बन्ध उन्हीं स्थानों से था जिनकी चर्चा ऊपर की गई है।

राजा साहब, सदाक़त-आश्रम और जायसवाल साहब की कोठी में हम समानरूप से रहते थे। आज तक हमें भी इस बात का पता नहीं चला कि हम सचमुच रहते कहां थे।

एक दिन हम जायसवाल साहब की गाड़ी पर राजा साहब की कोठी से लौटे। बीच में ही 'सदाक़त-आश्रम' था और वहाँ कुछ काम भी था। आश्रम में पहुँचकर हमने देखा कि एक पटनिया एक्का खड़ा है। मरियल टट्टू अपने भाग्य के नाम पर झख मार रहा है और एक्कावान घास पर बैठा आराम से बीड़ी पी रहा है। यह एक्का राजेन्द्र बाबू के कमरे के सामने खड़ा था। इसके बाद हमने देखा कि विहार-रत्न अपने प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ कमरे से निकले और एक्के पर चढ़ने की तैयारी करने लगे।

न जाने क्यों हमारा मन विषाद से भर गया। बिहार का यह गौरव एक्के पर चढ़कर आम सड़कों पर घूमे! इसे हमने अपना जातीय अपमान समझा। एक क्षण सोचकर हमने आगे बढ़कर राजेन्द्र बाबू को रोका और निवेदन किया कि "आप इस मोटर पर जाइए।"

हँसते हुए उन्होंने कहा—"यह गाड़ी तुम्हारी नहीं है। जिनकी यह है उन्होंने तुम्हें काम में लाने का आदेश दिया है न कि जिसको-तिसको चढ़ाकर दिन भर दौड़ाने के लिए।"

हमने कहा—"जब तक यह हमारी सवारी में है, हमारी गाड़ी है। आप इसी पर जाइए।"

वे भला क्यों राज़ी होने लगे और हमने भी हठ पकड़ा। अन्त में यह तय हुआ कि यदि जायसवाल साहब आज्ञा दे दें तो फिर कोई बात नहीं है। पास ही कोने में फ़ोन का रिसीवर रक्खा हुआ था, जिसे हमने कान में लगाया। जायसवाल साहब ने कहा कि "हम एक ही शर्त पर राजेन्द्र बाबू को गाड़ी दे सकते हैं और वह यह कि वे आज मेरा घर पवित्र करें।"

जायसवाल साहब राष्ट्रीयता के भयानक पोषक और एक महान् व्यक्ति थे। राजेन्द्र बाबू के हृदय में उनके प्रति सम्मान और स्नेह के भाव थे। हम इस चक्कर में पड़े कि किन शब्दों में डाक्टर जायसवाल का सन्देश राजेन्द्र बाबू को सुनाया जाय और इधर एक्कावान त्योरियाँ चढ़ाकर कभी हमें और कभी राजेन्द्र बाबू को घूर रहा था। सोच-विचारकर जब हमने राजेन्द्र बाबू से जायसवाल जी की शर्त कही। तब वे मुस्करा पड़े और कहने लगे कि "पार्टी की बैठक से अवसर मिलते ही वे जायँगे।" मोटर बढ़ गई और एक्कावान पंजे झाड़कर अपने राम के पीछे पड़ा।

बात यह है कि हम बहुत बार गधागाड़ी की सवारी पंजाब में कर चुके हैं और लड़कपन के उकसाने पर सीतलावाहन की पीठ पर भी आरोहण करने के अनेक मौक़े आ चुके हैं, पर एक्का पर चढ़ना हमारे लिए जर्मनवार में जाने से भी भयानक बात है, उस पर पटनिया एक्का ! आये दिन एक्का उलटने के समाचार पढ़ते-पढ़ते दिल कायर हो गया है। बड़ी कठिनता से हम उस वीर एक्कावान से अपना पिंड छुड़ा पाये।

'सदाक़त-आश्रम' विहार का राजनैतिक दिमाग़ है। राजेन्द्र बाबू के आते ही उसमें जीवन आ जाता है। कई दिनों तक वहाँ हलचल रही, रंगबिरंगी गाड़ियों की रेल-पेल भी रही। एक दिन बिस्तर समेटकर राजेन्द्र बाबू बम्बई की ओर रवाना हो गये और आश्रम में ऐसा सन्नाटा छा गया कि दिन में ही झिल्लीरव सुन पड़ने लगा।

(६)

रोग भी बड़ों की ही शरण में रहना पसन्द करता है, जैसे महात्मा जी की शरण में ब्लडप्रेशर है और राजेन्द्र बाबू की शरण में दमा।

राजेन्द्र बाबू दमा से सदा व्यग्र रहा करते हैं, पर विश्राम करना उनके लिए कठिन है। जब वे कांग्रेस के पहली बार प्रेसीडेण्ट हुए तब सारे भारत का दौरा उन्होंने एक साँस में कर डाला। कन्या-कुमारी से हिमालय और अटक से कटक तक नापकर जब वे लौटे तब हमने आपके दर्शन किये। अभिनन्दन-पत्रों का एक पहाड़ उनके साथ आया और आया उपहार में मिली हुई हज़ारों के दाम की चीज़ों का ढेर। सोने-चाँदी के बहुमूल्य कास्केटों का क्या कहना है ! कारीगरी के नमूने भी आये, जैसे एक ही चावल पर राजेन्द्र बाबू की तसवीर और हाथ में तिरंगा झंडा। चावल को खोदकर यह मूर्ति गढ़ी

गई थी। फ़ाउन्टेनपेन तो इतने थे कि आसानी से एक अच्छी-ख़ासी दूकान खोली जा सकती थी और पुस्तकें थीं एक छोटी-सी—पर सुन्दर—लाइब्रेरी जितनी। राजेन्द्र बाबू की जेब में उस समय भी हमने वही जराजीर्ण वाटरमैन देखा, जिसकी निब घिसकर पानी-पानी हो गई थी। विद्यार्थी रहते हुए शायद उन्होंने उसे ख़रीदा होगा। पूछने पर उन्होंने कहा कि अभी यह काम दे रही है और जो क़लम मुझे मिले हैं वे राष्ट्र की सम्पत्ति हैं।

आत्म-संवरण का यह एक मनोरम उदाहरण था। हमने साधारण काग़ज़ पर उनको निजी पत्र लिखते देखा है और जो काग़ज़ या लेटर-पेपर कांग्रेस के होते हैं उन्हें वे निजी काम में नहीं लाते। राजेन्द्र बाबू यहाँ तक अपने को सार्वजनिक पैसे से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। यही ईमानदारी उन्हें लगातार ऊपर उठाती चली जा रही है। हम जानते हैं कि कुछ ऐसे भी महानुभाव हैं जो लीडरी को अपना पेशा समझकर मौज मारा करते हैं और जिन्होंने सार्वजनिक धन को कूड़े-करकट से भी तुच्छ समझा है जब कि हमारा विहार-रत्न सार्वजनिक काम के लिए ख़रीदा गया काग़ज़ का एक छोटा टुकड़ा भी अपने काम में लाना बुरा समझता है।

पिछले अप्रैल की बात है। गया की गर्मी मशहूर है। हमने सुना कि राजेन्द्र बाबू राँची से गया होते पटना जा रहे हैं। कुछ अपना काम भी था। सुबह स्टेशन पर पहुँचा। पटना की गाड़ी पांच-पचास पर छूटती थी और लोकल ट्रेन होने के कारण यहाँ वह ठहरती भी ख़ूब है। हमने सोचा, स्टेशन पर ही राजेन्द्र बाबू के दर्शन करके छुटकारा मिल जायगा, पर परिणाम यह हुआ कि कई स्टेशन साथ जाना पड़ा।

हमने देखा, राजेन्द्र बाबू इन्टर में बैठे हैं और नाश्ता करने की

धुन में हैं। आप यह न भूलें कि वे दमा के पुराने रोगी हैं। अब नाश्ता का समाचार सुनिए। स्टेशन पर मिलनेवाले पेड़े, फिर मालदह आम, उसके बाद रसगुल्ले, फिर जलेबियाँ और ऊपर से दूध। यह कोई चिकित्सक ही बतला सकता है कि दमा के एक पुराने रोगी के लिए नाश्ता का यह तरीक़ा कितना ख़तरनाक है। जब यह दृश्य देखते-देखते हम बहुत ही व्यग्र हो गये, तब साहस करके पूछा—"आपको ऐसी चीज़ें खानी नहीं चाहिए। मीठा और वह भी बाज़ारू !"

राजेन्द्र बाबू ने सरलतापूर्वक कहा—"इस समय दमे की कोई शिकायत नहीं है। सर्दी के दिनों में वह उभड़ता है।"

हमने इस उत्तर से यही नतीजा निकाला कि जब रोग उभाड़ पर हो तभी पथ्यापथ्य का विचार होना चाहिए और वह दबा हुआ हो तो जो जी चाहे खाते-पीते रहना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि अपने प्रति राजेन्द्र बाबू बहुत ही निष्ठुर हैं, यद्यपि उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। आश्रम में वे बहुत सादा भोजन करते हैं। जो प्रत्येक आश्रमवासी के लिए बनता है वही राजेन्द्र बाबू के लिए भी काफ़ी समझा जाता है। मोटे चावल का कुछ-कुछ लाल रंग का भात, अरहर की दाल और बाज़ार में जो सबसे सस्ती मिलती हो वही सब्ज़ी। मसाला और मिर्च से परहेज़ रक्खा जाता है। चटपटी रसोई खाने के जो अभ्यासी होते हैं वे आश्रम में ठहरने का नाम भी नहीं लेते। आश्रम के लिए यह भी एक फ़ायदा है कि व्यर्थ की भीड़ वहाँ नहीं बढ़ती। तपस्या का जीवन होता तो सुन्दर है, पर ख़ास तौर से उनके लिए, जिन्हें परमात्मा ने उनकी इच्छा के ख़िलाफ़ संसार में भेज दिया हो। वे संसार से रूठे रहें तो इसमें कोई हर्ज नहीं है, पर हमारे जैसे व्यक्ति के लिए तो संसार ही सब कुछ है। मरने के

बाद क्या है, यह रहस्य जब हमारी समझ में नहीं आया, तब
बल से संसार में ही चिपक गये। हम तो खाने के लिए जी रहे हैं,
कि जीवित रहने के लिए दवा के रूप में आहार करते हैं।

(७)

राजेन्द्र बाबू में न तो पंडित जवाहरलाल जी जैसी तेज़ी है और
न पटेल जी जैसा जोशोख़रोश। लोकमान्य तिलक जैसे वे शेर
नहीं हैं और न सर सुरेन्द्रनाथ जैसे तार्किक। वे एक विशुद्ध भारती
हैं और महात्मा गांधी के विहारी संस्करण कहे जा सकते हैं। न
केवल विहार में ही, बल्कि सारे भारत में उनका एक स्थान है और
उस स्थान का मूल्य कोहेनूरों के एक पहाड़ से कूता जा सकता है।
आप लोगों ने समाचार-पत्रों में पढ़ा होगा कि विहार में किसान-सभा
का बोलबाला है और किसान-नेता स्वामी सहजानन्द जी एक दबंग
व्यक्ति हैं। पर यह कितने आश्चर्य की बात है कि वे भी राजेन्द्र बाबू
का सम्मान अपने हृदय की पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से करते हैं।
इतना ही नहीं, विहार का प्रत्येक दल राजेन्द्र बाबू के सामने सिर
झुकाने में अपना गौरव समझता है। प्रजा और ज़मींदार दोनों ही
उन्हें अपना हितू मानकर उनका सम्मान करते हैं। निश्चय ही
राजेन्द्र बाबू एक सार्वभौम नेता हैं, जो न केवल कांग्रेस के ही प्राण
हैं, बल्कि समस्त विहार के पूजनीय देवता हैं। उनकी सादगी और
मिलनसारी अतुलनीय है।

पंडित जवाहरलाल जी के सामने जाते हुए साधारण व्यक्ति क्या,
विशेष व्यक्ति भी घबराता है। जब पंडित जी गया आये थे, तब हमने एक
स्वयंसेवक से यह प्रार्थना की कि वह पंडित जी तक हमारा कार्ड पहुँचा
दे। पर वह किसी तरह भी यह गुस्ताख़ी करने को राज़ी नहीं हुआ।
उनके कमरे के सामने से गुज़रता हुआ कोई भी व्यक्ति झिझकता है

पर यह बात हमारे बिहार-रत्न के सम्बन्ध में नहीं सोची जा सकती। हमने देखा है कि वे दमे से परेशान हैं, पर साधारण किसान से लेकर बड़े-बड़े कांग्रेस-कार्यकर्ता तक उन्हें लगातार कष्ट पहुँचा रहे हैं। सदाक़त-आश्रम में उनका बैठकख़ाना प्रत्येक के लिए हर घड़ी खुला रहता है। न तो सेक्रेटरी से मुलाक़ात का प्रबन्ध कराना पड़ता है और न कोई तूफ़ान उठाने की हाजत होती है। यदि राजेन्द्र बाबू आश्रम में मौजूद हुए तो किसी समय भी आप उनसे मुलाक़ात कर सकते हैं और जब तक जी चाहे बातें कर सकते हैं। वे बहुत ही शान्ति और प्रसन्नता के साथ आपकी बातें सुनेंगे और उत्तर देंगे। उन जैसी मानसिक एकाग्रता, उनका-सा और संयमशील हृदय हमने बहुत ही कम देखा है। इस सम्बन्ध में महात्माजी का नाम लेना उचित नहीं होगा, क्योंकि वे आलोचना के विषय नहीं रहे। प्रशंसा और निन्दा के परे की स्थिति में पहुँचकर आज महात्माजी करोड़ों भारतवासियों की पूजा के अधिकारी बन चुके हैं।

इसी महीने की बात है। हम गोरखपुर से लौटे और सीधे पटना पहुँचे। छोटी लाइन के कष्टों का वर्णन करना हम नहीं चाहते, पर इतना तो अवश्य कहेंगे कि सारे शरीर का कचूमर निकल गया था। 'जनता'-कार्यालय में पहुँचते ही सबसे पहले 'जनता' के यशस्वी सम्पादक और विख्यात साम्यवादी भाई रामवृक्ष बेनीपुरी के दर्शन हुए। बेनीपुरी भाई में लड़कपन इतना है कि अभी जवान होने की क़तई उम्मीद नहीं है। हमने देखा कि वे अपने दोनों तलवों पर पट्टी चढ़ाये लेटे हुए हैं। पूछने पर बच्चों की तरह उचकते हुए कहा—कोढ़ फूट आया है! ख़ैर, यहीं यह पता चला कि आज राजेन्द्र बाबू आनेवाले हैं। प्रयाग से आप सीधे पटना आ रहे थे। वर्किंग-कमिटी समाप्त हो चुकी थी। यह इसी नवम्बर की बात है।

फ़ोन करने पर हमें यह सूचना मिली कि राजेन्द्र बाबू अभी-अभी आये हैं। हमने यह तय किया कि दोपहर को उनके दर्शन कर उचित होगा। नींद के मारे हम अधमरे हो रहे थे।

ठीक समय पर जब आश्रम पहुँचते हैं तो क्या देखते हैं कि विहा के भूतपूर्व प्रधानमंत्री के साथ राजेन्द्र बाबू कहीं जाने की व्यवस्थ में लगे हुए हैं। अभिवादन आदि के बाद उन्होंने कहा कि सात बजे आना, तुमसे एक आवश्यक काम है।

पूछने पर उन्होंने कहा—हम एक मीटिंग में जा रहे हैं। वहाँ से मृत्युंजय के यहाँ जायँगे।

मृत्युंजय बाबू उनके ज्येष्ठ पुत्र हैं और फ़िलहाल पटना में हीं सपरिवार रहते हैं। हमने सोचा कि ७ बजे तक आश्रम में बैठे रहना एक मानसिक सज़ा है। हम घूमते-फिरते मृत्युंजय बाबू के डेरे पर पहुँचे। वहाँ बिहार के भूतपूर्व अर्थ-मंत्री बाबू अनुग्रहनारायणसिंह बैठे दिखलाई पड़े और दिखलाई पड़े बिहार के सबसे बड़े राजनातिज्ञ बाबू ब्रजकिशोर, जो बुढ़ौती और लकवा से लड़ते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उस नखदन्त विहीन वृद्ध व्याघ्र को हमने क़रीब बीस साल के बाद देखा। कितना परिवर्तनशील संसार है! आह!

तत्काल राजेन्द्र बाबू भी आगये। आते ही उन्होंने कहा, अच्छा हुआ जो तुम यहाँ आगये। आओ यहीं एक बात बतला दूँ।

'हिन्दुस्तानी-कमिटी' का पचड़ा उन्होंने हमारे सामने रक्खा। १० दिसम्बर को कमिटी की बैठक होने जा रही थी और कुछ ज़रूरी बातों पर विचार करना था। हिन्दी और उर्दू के पारिभाषिक शब्दों पर विचार करने का आदेश उन्होंने हमें दिया और कहा कि अमुक-अमुक प्रोफ़ेसर तुम्हारी सहायता करेंगे। हमारे लिए यह प्रलोभन कुछ कम नहीं था। पर हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में हम निराश हो चुके हैं।

राजेन्द्र बाबू ने यह भी कहा कि विचार करते समय मुसलमानों पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

इस निजी बातचीत को सार्वजनिक रूप देना, हो सकता है कि उचित न हो। पर हम जब संस्मरण लिखने बैठे हैं तब हमारे लिए यह उचित है कि हम उसे असम्पूर्ण न रहने दें। हम यह चाहते थे कि पारिभाषिक शब्दों के इस झगड़े को निबटाकर ही गया जायँ, मगर न जाने क्यों हमारा जी नहीं बढ़ा। हिन्दुस्तानी के नाम पर जैसी भाषा दी जा रही है वह समर्थन के योग्य नहीं कही जा सकती। हम नित्य रेडियो सुनते हैं और दिल्ली से हिन्दुस्तानी नामधारी जो भाषा बोली जाती है वह घृणा के योग्य है। उस भाषा को न तो फ़ारसी कह सकते हैं और न हिन्दी। एक वाहियात भाषा की रचना में तनिक भी सहयोग देना हमारी आत्मा को मंज़ूर न था और हम गया भागने की व्यवस्था में लग गये। हमें दुःख है कि राजेन्द्र बाबू का आज्ञापालन नहीं कर सके।

पटना से गया की ओर गाड़ी भाग रही थी।

यह पिछला नवम्बर था। हम अपने बर्थ पर चुपचाप बैठे आरमेनियन युवक की बातें सुन रहे थे, जो बड़ी कठिनता से अपने मनोभावों को टूटी-फूटी अँगरेज़ी में व्यक्त कर रहा था। कुछ समय पहले एक बंगाली बाबू से इस आरमेनियन युवक से काफ़ी थूका-फ़ज़ीहत हो चुकी थी। बंगाली बाबू यह समझ रहे थे कि यह एक योरपियन है। पर जब उसने कहा कि वह आरमेनियन है तब दोनों में तत्काल मैत्री हो गई और अचानक सभी मुसाफ़िरों की सहानुभूति उस विदेशी की ओर हो गई। हम यह साहस-पूर्वक कहेंगे कि कुछ समय पहले उक्त बंगाली बाबू की भद्दी और तेज़ बातों का समर्थन गाड़ी के कोने-कोने से हो रहा था, पर जैसे ही लोगों को यह मालूम हो गया कि बंगाली

बाबू का प्रतिवादी योरपीय नहीं है, वैसे ही सभों ने बंगाली बाबू का साथ छोड़ दिया और स्वयं बंगाली बाबू ने भी बढ़कर हाथ मिलाया।

सारे देश में इस तरह की मनोवृत्ति ज़ोर पकड़ रही है।

हम एक बार श्रद्धापूर्वक राजेन्द्र बाबू के चरणों पर सिर झुकाकर अब क़लम को विश्राम देते हैं। उनके पावन संस्मरण लिखकर आज हम धन्य हुए।
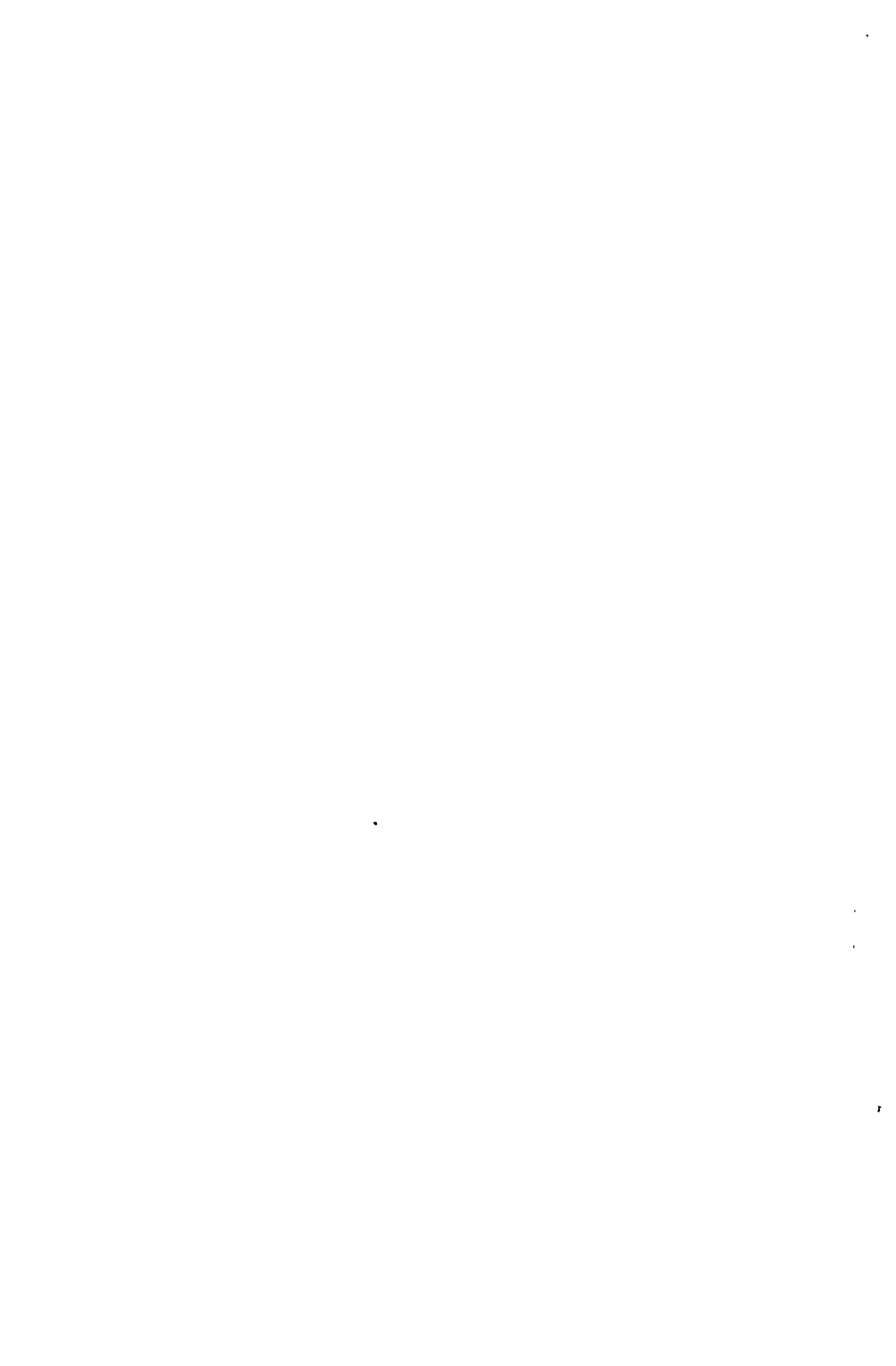
पण्डित रामावतार शर्मा

बहुत दिनों की बात है; शायद १९२२ ई० की। उस समय मैं दर्शन का विद्यार्थी था। उपनिषदों की कवित्वपूर्ण वर्णनशैली मेरी आत्मा को लुभा चुकी थी। अब दर्शन-शास्त्र की ओर मेरा ध्यान गया था। नास्तिक दर्शनों के तर्कों ने मेरे हृदय को विशेष रूप से प्रभावित किया। मैं नास्तिकवाद के ग्रन्थों को खोज-खोजकर पढ़ने लगा। जितने ग्रन्थ मैं प्राप्त कर सका, उन्हें, व्याकुल हृदय से, एक-एक कर चाट गया। पुस्तक पढ़ने की क्षुधा ऐसी है कि, जितना स्वाध्याय कीजिये, भूख बढ़ती ही जायगी। इस भूख के चलते मैं स्वयम् कई बार काफ़ी असुविधा उठा चुका हूँ; फिर भी आदत नहीं छूटी !

एक दिन मेरे एक मित्र ने मुझे "परमार्थदर्शन" नामक एक सप्तम दर्शन की सूचना दी। "परमार्थदर्शन" की झाँकी उन्होंने स्वयम् नहीं की थी। यह नाम कहीं पढ़ा था; बस। उल्लासपूर्ण हृदय से उछलते-कूदते आये मुझे शुभ संवाद देने। मैंने तो इस दर्शनग्रन्थ का नाम भी नहीं सुना था। अपने मन में विचारा कि कहीं यह मेरे मित्रवर के सनकी मस्तिष्क का आविष्कार तो नहीं है। अपनी सत्यता का प्रमाण देने के लिए मेरे मित्र मुझे स्थानीय पुस्तकालय तक घसीट ले गये। लाइब्रेरियन महोदय ने खोज-ढूंढ़ की; पर उस ग्रंथ का कहीं पता न लगा। तो भी साहित्य-संसार में इस नाम का ग्रन्थ रहना सिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ के प्रणेता थे पं० रामावतार शर्मा।

पं० रामावतार शर्मा के शुभ नाम का कीर्तन इसके पहले भी मैं सुन चुका था। मैंने धड़कते हुए हृदय से आपकी सेवा में एक पत्र लिखा। एक सप्ताह के बाद पुस्तक आ गयी। मैंने एक ही साँस में

समाप्त कर डाला। "परमार्थदर्शन" भी दूसरे दर्शन-ग्रन्थों की तरह जटिल था; पर इसमें नव्य विवेचन-शैली की छटा देखकर मैं दङ्ग रह गया। शर्माजी की तो सर्वतोमुखी प्रचंड प्रतिभा का इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्तियों में परिचय मिला। एक महाराष्ट्र सज्जन तो (जो माध्व सिद्धान्तों के चूड़ान्त विद्वान् और संस्कृत-साहित्य के अधिकारी पंडितों में से थे) इस समस्त दर्शन को पढ़कर अवाक् हो रहे! आप इस नूतन दर्शन के ऋषि की सेवा में उपस्थित होने के लिए तुरंत पटना की ओर चल पड़े।

पाँच दिनों बाद अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट के साथ आप मेरे सम्मुख उपस्थित हुए। शर्मा जी के सम्बन्ध में आप घण्टों बोलते रहे। विस्मय-विमुग्ध हृदय से मैं अवाक् बैठा सुनता रहा। पण्डितजी ने कहा—"वे मूर्तिमान् दर्शनशास्त्र हैं। इतना बड़ा गंभीर पांडित्य मैंने आज तक नहीं देखा। सर्वतोमुखी प्रतिभा है। इतना होते हुए भी शर्माजी नास्तिक हैं।"

धर्म-प्राण माध्व-सम्प्रदायानुयायी पण्डितजी शर्मा जी में इतनी कमी पाते थे। वे इसके लिए मन-ही-मन कुढ़ रहे थे और शर्मा जी के लिए निश्चय ही भगवान् के चरणों में प्रार्थना भी कर रहे होंगे। यह आज से ११ वर्ष पहले की बात है। तब मैं १९-२० वर्ष का अल्हड़ नवजवान था।

(२)

उसके बाद की कहानी सुनिये। कोई सात-आठ वर्ष पहले की घटना है। सावन का महीना था। काली-काली लुभावनी घटाओं से आकाश भरा हुआ था। रह-रहकर बादलों से जल के फौव्वारे छूट पड़ते थे। धरित्री ने हरी चुनरी पहन रखी थी। ताल-तलैयों की आँखों में आनन्दवारि छलछला रहा था। गोधूलि के समय पुरवैया के झकोरों

के साथ बादलों का दौड़ना मेरे जैसे बैठे-ठाले कवि के लिए अनुपम था, नयन-रञ्जक था, कवित्वमय या। हरे-भरे खेतों में जल लहरा रहा था। इन्हीं दिनों यारों ने पटना जाने का प्रोग्राम बनाया। मैं भी "बक्स-विस्तर" लेकर प्रस्तुत हो गया। यह दल झमझमाती हुई घटाओंवाले किसी दिन को चल निकला। ग़रीबों की कमाई पर पलनेवालों का यह दल सेकिण्ड क्लास का टिकट लेकर पटना पहुँचा। स्टेशन पर भाई प्रफुल्लचन्द्र के दल ने बड़े तपाक से स्वागत किया। "जस दूलह तस बनी बराता" वाली बात रही।

साहित्याचार्य पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री का "ओझा बन्धु-आश्रम" उन दिनों पटना के जिस छज्जेपर था; उसके नीचे हलवाई की एक दूकान भी थी। छज्जा दस फीट लम्बा और छ-सात फीट चौड़ा था। छज्जे के बाद एक छोटी-सी कोठरी थी, जो पुस्तकों की छोटी-सी लाइब्रेरी कही जा सकती थी। इसी छज्जे के एक कोने में चटाई पर शास्त्रीजी विराजते थे। हलवाई के अनुग्रह से छज्जे पर मच्छड़ों का आना असम्भव था। हाँ, मक्खियों ने मच्छड़ का अभाव अवश्य दूर कर रखा था। छज्जा एक खपड़ैल की छाया में था, जो किसी दुखिया की आँखों की तरह रोता रहता था। न जानें कब से वह अपने जीर्ण कलेवर को सँभाले छज्जे की रक्षा कर था! शास्त्रीजी का वह आराधना-मन्दिर था और भाई प्रफुल्लचन्द्र का लीला-स्थल! इस छज्जे के नीचे पटना की प्रधान सड़क थी और सामने मेडिकल कालेज की भव्य इमारतें।

मैं इसी छज्जे पर पहुँचाया गया। बक्सों और बिस्तरों से समस्त छज्जा मालगोदाम बन गया! शास्त्रीजी ने जितना स्थान छोड़ा था, वह हमारे लिये अपर्याप्त था। अत्यन्त पुलकित हृदय से हमने शास्त्री-जी की चरणवन्दना की और विश्राम करने के लिए हम खुली सड़क पर

पहुँच गये। प्रफुल्ल भाई हमारे स्वागत में लगे।

मेडिकल-कालेज की विशाल इमारतों के ठीक सामने यह छो
छोटी कोठरियोंवाला जीर्ण छज्जा मानों उनका परिहास कर र
था। पटना का मेडिकल-कालेज लक्ष्मी की महत्ता का मूर्तिमा
प्रमाण कहा जा सकता है और यह छज्जा?— छज्जा सरस्वती की
दरिद्रता का सूत्र-रूप। लक्ष्मी और सरस्वती में जो प्रभेद है, वह
मैंने यहाँ स्पष्ट रूप में देखा! साहित्याचार्य पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री का
यह उपासना-मन्दिर मेडिकल-कालेज से आठ-दस फीट के फ़ासले पर
रहकर भी असंख्य योजनों की दूरी पर था। बीच की सड़क विभाजन-
रेखा थी। दोनों को सदा दूर-दूर रखने के लिए ही मानों विधाता
इस सड़क की सृजना की।

मैं मुग्ध-दृष्टि से कभी कालेज में इधर-उधर दौड़ने वाली नर्सो
को देखता और कभी स्वाध्याय-रत शास्त्रीजी को। ये दोनों परस्पर
विरोधी दृश्य एक दूसरे के सामने थे। एक ओर वेद, पुराण, दर्शन
आदिकी चहल-पहल थी, दूसरी ओर गौराङ्गरमणियों की लास्य-लीला,
उछल-कूद, हास्यविनोद, अकथनीय उद्दामनर्तन!

सावन की सजल सन्ध्या आ धमकी। घटाएँ बरस चुकी थीं
तारकोल की काली सड़कों पर सरसराती मोटरें दौड़ रही थीं। मैं
इस चहल-पहल से ऊब उठा था। छड़ी उठायी और सीधे महाराजा
दरभङ्गा के घाट की ओर चल पड़ा। यह घाट कालेज की दूसरी ओर
है। महाराजा की भव्य इमारतों के नीचे यह सुन्दर घाट आज भी
वर्त्तमान है। घाट पर पहुँचकर मेरे मन को विश्राम मिला। गङ्गा
का यौवन उभार पर था। तरङ्ग-मालाओं पर बरसकर थकी हुई घटाओं
की श्यामल छाया पड़ रही थी। उस पार की वनश्रेणी जल में डूबी
हुई-सी दिखलाई पड़ती थी। गङ्गा में दो-चार नावें पाल ताने चुप-

चाप हिल रहीं थीं। घाट निर्जन था। सीढ़ियों से टकराकर जल कल-कल ध्वनि कर रहा था। इस कल-कल ध्वनि में कला छलक रही थी। मुझे विश्वास हो गया कि, "कल" से निश्चय ही कला शब्द की उत्पत्ति हुई है। मैं एक बुर्ज पर बैठ गया। पुरवैया के शीतल झकोरों से मेरे सिर के बाल अस्त-व्यस्त हो गये। स्वर्ग की वह स्मृति आज भी मेरे हृदय को पुलकित कर डालती है। मैं आत्मविस्मृत बना कब तक बैठा रहा, इसका मुझे पता नहीं; पर जब मेरा ध्यान भङ्ग हुआ, तब मैंने देखा कि एक वृद्ध सज्जन घाट की अन्तिम सीढ़ी पर बैठे पुस्तक पढ़ रहे हैं। एक मोटी लाठी तथा अगल बगल कई मोटी-मोटी पुस्तकें सीढ़ी पर रक्खी हुई हैं! वृद्ध सज्जन खद्दर का एक लम्बा कुरता पहने, खाली सिर, पुस्तक के पृष्ठ-पर पृष्ठ उलट रहे थे। पुस्तकों के पृष्ठ वे इस शीघ्रता से उलट रहे थे कि, देखनेवाले को यह भ्रम हो जाना नितान्त सम्भव था कि, वे पढ़ते नहीं, पुस्तकों के चित्र देख रहे हैं। देखते-देखते सन्ध्या मट-मैली होने लगी और दिशाएँ धुँधली हो गयीं। दूर पर की नावों के श्वेत पाल राजहंस के डैने की तरह गोधूलि से धूलि-प्रकाश में दिख-लाई पड़ते थे। पुस्तक रखकर वे वृद्ध सज्जन उठ खड़े हुए! जब वे घाट की ओर मुँहकर ऊपर चढ़ने लगे, तब मैंने उन्हें पहचान लिया। वे पण्डित रामावतार शर्मा के अतिरिक्त और कोई न थे।

शर्माजी बगल में पुस्तकें दबाये धीरे-धीरे घाट पर चढ़ने लगे। मैं भी अपनी जगह से उठा! सरस्वती के इस श्रेष्ठ पुजारी ने, चरण छूते ही, मुझे पहचान लिया! आपने छूटते ही पूछा—"कब आये?" मैंने कहा—"जी, आज दोपहर की गाड़ी से।" प्रश्न हुआ—"कहाँ ठहरे। किसी होटल में? क्यों?"

यदि सचमुच में किसी होटल में ठहरता तो? शर्माजी की यह

मीठी चुटकी ग़ज़ब की थी। मैंने निवेदन किया—"जी नहीं। शा
जी के चरणों में आश्रय मिला है।" शर्माजी ने कहा—"मेरे य
क्या जगह नहीं थी?" कितनी आत्मीयता थी? "परमार्थ दर्शन
लेकर शर्माजी की सेवा में कई बार पत्र भेजने का मुझे अवसर मिला
था और काशी में तो स्व० लाला भगवानदीनजी के साथ दर्शनों
का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। "दीन" जी ने मेरा परिचय देते
हुए शर्माजी के सामने जितने शब्द कहे थे, वे अकथनीय थे। कहना
न होगा कि, उस दिन "दीन" जी ने मुझे बहुत ही लज्जित किया
था। मेरे "एकतारा" और "निर्माल्य" की तुकबन्दियाँ सुना सुना
कर "दीन" जी ने शर्माजी का जो समय नष्ट किया था, उसका
मलाल आज तक मेरे हृदय में है। वरन् अब तो मलाल ने नासूर का
रूप ले लिया है! शर्माजी ने अपनी पुस्तकों का भार मुझे सौंप दिया
और आप धीरे-धीरे सीढ़ियों के निष्ठुर सिलसिले को समाप्त करने लगे।

देखते-देखते हम खुली सड़क पर आ गये। बिजली की बत्तियाँ
और आने-जाने वालों का रेलपेल! हम आगे बढ़े।

(३)

"हाँ, भाई, तुम केला अधिक खाना क्या नहीं पसन्द करते? व
अमीर जाति के जीव इस रम्भाफल से परहेज रखते हैं? मेरी समझ
अंगूर अमीरी फल है।"

—शर्माजीने कहा।

सच पूछिये तो न तो मैं अमीर हूं और न मेरे पुरखों में से कोई
इस रोगसे आक्रान्त था। गया का मैं एक ग़रीब पंडा हूँ और भीख
माँगकर पेट चलाता हूँ। शर्माजी को न जाने यह कैसे विश्वास ह
गया कि, मैं अमीर जाति का स्थलचर हूं। शर्माजी स्वयम् अमीर थे।
सैकड़ों रुपये मासिक पाते थे और मोटरपर चलते थे। इतना होते हुए

भी आप अपने को ग़रीब तथा खद्दर का कुरता पहने रहने पर भी मुझे अमीर समझ बैठे थे। बड़ों की बात बड़े जानें। मैंने झेंपते हुए कहा — "मैं फल बहुत ही कम खाता हूँ।" शर्माजी फल खाने के नामी शौकीनों में से थे। दिनभर फलाहार चलता था। "नहीं-नहीं" करते रहने पर भी आपने मुझे इतना फल खिला दिया कि, रातभर पेट की पीड़ा से मैं कराहता रहा! सावनका महीना और पेट में दर्द! मैंने तो सोचा कि, अब कुशल नहीं है। पर राम राम करके एक दर्जन केला, कई डब्बे अंगूर के दाने, कई दूसरे प्रकार के फल तथा आम मैं पचा ही तो गया! सचमुच मुझे अपनी ऐसी प्रचण्ड पाचन-शक्तिपर बड़ी प्रसन्नता हुई।

भाई प्रफुल्लचन्द्र की कचौरियाँ रातभर पड़ी रहीं। मेरे भावुक हृदय भाईजी कचौरियाँ न खानेके अपराध में मुझसे कुछ नाराज़ भी हुए; पर "शर्माजी के स्वागत्" की कथा मैंने किसीको भी नहीं सुनायी। मन-ही-मन उसका मज़ा लूटता रहा।

दूसरा दिन पड़ा रविवार! सोचा, आज शर्माजी कालेज नहीं जायँगे। दिनभर बड़ा आनन्द रहेगा।

मेरा दिन आठ-नौ बजे से प्रारम्भ होता है। मैं सोता हूँ तो भगवती निद्रा देवी के चरणोंपर अपने समस्त दुःख-सुख अर्पण कर देता हूँ। गहरी नींद सोना प्रकृति-प्रदत्त गुण मुझे प्राप्त हुआ है; पर शास्त्री जी के उस छज्जेपर कुम्भकर्ण को भी प्रातः पाँच बजे उठने को बाध्य हो जाना पड़ता। हलवाई ख़ूब सबेरे अपनी भट्ठी जगाता और उसी धूएँ से मक्खियों का निद्रा-भङ्ग होता! बस, फिर क्या पूछना! प्रत्येक सोये हुए व्यक्ति का मुँह मधुमक्खी का छत्ता बन जाता। साँस लेनेमें ज़रा भी असावधानी हुई कि, नासिका-रन्ध्र से दो-चार मक्खियाँ दिमाग का गूदा चाटने के लिए भीतर घुसीं। मुँह का खुलना तो आफ़त सम-

भिये। हँसने की आदत ने यहाँ कई बार मुझे बेतरह छकाया।
के लिए मुँह खोला कि दो-चार मक्खियाँ कण्ठ तक पहुँच गयीं,
थू-थू! कौन हँसकर मक्खियों से अपना मुँह भरे। भले ही मेरे
"रिमार्क" से भाई प्रफुल्लचन्द्र मुझपर नाराज़ हों, पर मैं सच्ची बा
निडर होकर लिखता हूँ। मक्खियों के उत्पीड़न से मैं अधकचरी नींद
में ही जाग उठा। सावन का प्रभात था। सारी रात वर्षा हुई थी।
उस समय भी मज़ेदार वृष्टि हो रही थी। बरसाती पर्दा लगाये फिटिन
गाड़ियाँ दौड़ रही थीं और बेचारे कोचमैन स्वयम् भींगते हुए भींगे —
घोड़ों को दौड़ा रहे थे। मोटरों की तो बात ही न पूछिए। शास्त्री
उन दिनों शायद 'आदिकाव्य' की हिन्दी टीका लिख रहे थे। अ
न जाने कबसे अपने काम में जुटे हुए थे। नीचे, सड़कपर, "गर
चाय, पावरोटी बिस्कुट! गरमागरम हलवा!" आदिकी पुकार मच
हुई थी। शास्त्री जी एक हाथ में पंखा और दूसरे हाथ में कलम लिये
डटे थे।

मैंने करवट बदलकर फिर सोनेकी चेष्टा की, पर मेरे साथी अचा-
नक थू-थू करते हुए उठ बैठे! शायद आपने मुँह धोने के पूर्व ही
एकाध मक्खी का नाश्ता कर लिया होगा! भगवती निद्रा को प्रणाम
कर मैं भी सचेत हो गया। मेरे साथी नाली पर बैठकर लगातार कुल्ले-
पर कुल्ले कर रहे थे! आपने—मेरे एक साथी ने—जँभाई ली थी।
बस, कई मक्खियाँ पलक मारते आपके मुँह में चली गयीं। बेचारे
विकल हो उठे। "निंदियारानी" काफ़ूर बनकर उड़ गयीं। आपका
घिनाया हुआ रूप आज तक, चेष्टा करके भी, मैं भूल न सका।
यह हुआ चन्द्रगुप्त के पाटलिपुत्र का प्रभात-वर्णन।

❀ ❀ ❀ ❀

शर्माजी घर पर नहीं थे!

क्या आपने कभी उस निराशा का सामना किया है, जो स्टेशन पर पहुँचते न पहुँचते ट्रेन छूट जाने से यात्री को होती है ? बस, अधिक क्या लिखूँ। हताश होकर मैं एक टूटी हुई कुर्सी पर थका हुआ-सा बैठ गया। थोड़ी देर बाद घंटी बजी और शर्माजी साइकिल लिये पहुँच गये। साइकिल के उस स्थान पर, जहाँ लैम्प लगाया जाता है, हैट उसके फीते के सहारे लटक रहा था और उसमें काले-काले जामुन के फल थे। जम्बू फलों को देखकर मेरा हृदय दहल उठा। शर्माजी बच्चों-सी निर्दोष हँसी हँसते हुए बोले—"तुम आ गये। अच्छा बैठो, मैं अभी आया। जामुन खाओगे ? लो, इनसे मन बहलाओ।"

आपका बैठकखाना। उफ़, बैठकखाना क्या, वह पुस्तकों का गोदाम था। ढेर-की-ढेर किताबें पड़ी थीं और पत्र-पत्रिकाओं का तो पहाड़-सा लगा हुआ था। थोड़ी देर के बाद शर्माजी आये। हाफ़पैंट और खद्दर का कुरता तथा पैरों में शुद्ध राष्ट्रीय पादत्राण—चट्टी या चप्पल, जो कहिये !

आप ग़ज़ब के पाठक थे। आपका अध्ययन करने का तरीक़ा बड़ा ही ठोस था। जटिल-से-जटिल ग्रन्थ को भी आप अपनी स्मृति के बल पर मस्तिष्क में स्थायी कर लेते थे। आप सूची-पण्डित नहीं कहे जा सकते। जायसवालजी जैसे महापण्डित आपकी स्मरणशक्ति के क़ायल हैं। कपिल, कणाद जैसा यह दार्शनिक बच्चों की तरह हँसता था, और ख़ूब फल खाता था।

क्या यह बात अत्युक्तिपूर्ण है कि आप विद्यार्जन के लिए ही संसार में आये थे और भगवती सरस्वती को ही अपना सोने की तरह स्वास्थ्य अर्पणकर संसार से विदा हो गये !

आपसे जो कोई मिलने जाता था, सबसे पहले उसका ध्यान आपकी पुस्तकों की ओर आकर्षित होता था। आप सदा किसी-न-किसी ग्रन्थ के मनन में लगे रहते थे। जब आप बोलने लगते, तब आप पुस्तक

के पृष्ठ पर से अपनी चमकदार आँखें उठाते। बात समाप्त होते ही फिर अपने कार्य में तन्मय हो जाते थे। आपकी मोटर एक चलफिरती लाइब्रेरी थी। शर्माजी के पास एक क्षण भी फालतू समय नहीं था।

जिस समय मैं शर्माजी की सेवा में उपस्थित हुआ था उस समय कोई फ्रेंच प्रोफ़ेसर आपके पाठागार में उपस्थित था। प्रोफ़ेसर का नाम मुझे इस समय स्मरण नहीं है। पर उसके जाने के बाद शर्मा जी ने मुझसे कहा कि "वह उनसे दर्शन पढ़ना चाहता है।" दर्शनशास्त्र में निष्णात होते हुए भी वह विदेशी विद्वान् आपका शिष्यत्व प्राप्त करने में अपना गौरव समझ रहा था। कितने भारतीयों ने इस ओर ध्यान दिया ! शोक !!!

शर्माजी की कवित्व-शक्ति कालिदास की कोटि की मानी जाती है। आपके "मुद्गरदूत" को संस्कृत के जिन-जिन विद्वानों ने पढ़ा है, वे अवश्य ही मेरे मत से सहमत होंगे। "मुद्गरदूत" में भी मेघदूत जैसा ही प्रवाह है; कवित्व है, मनोमोहकत्व है। आपके निकट बैठते हुए मैंने तो यही अनुभव किया कि मैं एक ऐसे महापुरुष के सम्मुख बैठा हुआ हूँ, जो कालिदास है, श्रीहर्ष है, शङ्कर है, कणाद है।

आपको सैकड़ों ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। कालिदास के कई नाटक तथा शेक्सपियर के कई नाटक आपको जिह्वाग्र थे। समस्त रघुवंश तथा शिशुपालवधादि महाकाव्य आपकी स्मृति में उलझे हुए थे। पचीसों उपनिषदों तथा सभी दर्शनों को भी आपने मुखस्थ कर लिया था। ऐसी प्रचंड मेधा-शक्ति कम देखने में आती है। अंग्रेज़ी के पचासों ग्रंथ अपनी स्मृति के बल पर आपने कण्ठस्थ कर डाले थे। आप एक सजीव पुस्तकालय थे।

(४)

'गया' खँडहरों की बस्ती है। भगवान् बुद्ध की तपोभूमि में पहाड़ों,

जंगलों और खँडहरों के अतिरिक्त आज कुछ भी नहीं है। गया के जिस भाग में मेरा घर है, वह तो एकदम "ऊजड़ गांव" है। न बाज़ार, न भव्य भवन!

चैत का महीना था। इस खँडहरों की बस्ती में भी बसन्ती हवा डोलने लग गई थी। पतझड़ के दिन थे और धूप में गर्मी आ गयी थी। मैं किसी कार्य से कहीं गया था। रास्ते में मित्र-मंडली मिल गई। अपने राम उससे उलझ गये। दुपहरी हो गयी। भोजन का समय हो गया। मैं घबराया हुआ घर की ओर भागा। उन दिनों मैं "एकतारा" के लिए अपनी तुकबन्दियों को छाँट रहा था। श्रीयुत रामवृक्ष बेनीपुरी जी का तक़ाज़ा था—"पुस्तक जल्द भेजो, अधिक गर्मी पड़ जायगी तो छपाई अच्छी नहीं होगी।" भाई बेनीपुरी भी विकट मौजी जीव हैं। जिस बात की सनक उन पर चढ़ जाती है, उसे पूर्ण करके ही दम लेते हैं। प्रत्येक डाक से आपकी एक चिट्ठी आ जाती थी। प्रत्येक पत्र में पुस्तक की कापी भेजने का तकाज़ा! भला बसन्त के दिनों में भी लिखने-पढ़ने का काम हुआ करता है! यह ऋतु तो अनुभव करने की चीज़ है। पर भाई बेनीपुरी कब मानने लगे। आपके हठ ने मुझे कलम सँभालने को बाध्य किया। "एकतारा" का काम बड़े उत्साह से चलने लगा। इसी समय स्वनाम-धन्य शर्मा जी का मेरी कुटिया पर पदार्पण हुआ। धन्यभाग्य!

हाँ, चैत का महीना था। ज़रा गरम और शीतल हवा के हलके झकोरों में ग़ज़ब की मादकता थी। मैं टेबिल पर ही ऊँघने लगता था। रह-रह कर कलम की रोशनाई सूख जाती थी। मेरा लिखने-पढ़ने का कमरा मकान के एक ऐसे हिस्से में था, जिसकी खिड़कियों से दूर-दूर के दृश्य दिखलाई पड़ते थे। पतझड़े वृक्षों की शोभा तो निराली ही थी। मेरे गुलाब की "अपत कटीली डार" में लाल-लाल पत्तियाँ निकल रही

थीं। मैं देखता था, दोपहर को बकरियाँ खँडहर के भग्नावशेष की छाया में बैठकर धीरे-धीरे जुगाली करती हैं।

इन्हीं दिनों की बात है। जब मैं ठीक दोपहर को घर लौटा, देखा, शर्माजी मेरे कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। मैं ठिठककर दरवाज़े पर ही खड़ा रहा। मेरे आने की आहट ने शर्मा जी का ध्यान भङ्ग किया। आप "एकतारा" की कापी पढ़ रहे थे, जो टेबिल पर पड़ी थी। उन्होंने मुझे देखते ही कहा—"यदि तुम थोड़ी देर और न आते, तो मैं इसे पढ़ डालता। सुन्दर संग्रह है। बधाई देता हूँ।" मैंने आप के चरण छुए और कुशल-प्रश्न के बाद आसन ग्रहण किया। आप कोई एक घंटे तक मेरी झोपड़ी में हँसते रहे।

मैं प्रायः सभी महापुरुषों में सादगी को समान रूप से पाता हूँ। सरलता सचमुच एक अद्भुत गुण है, जो साधारण जनों के लिए दिल्ली की मिठाई है। डा० झा में भी मैंने उसी सादगी को पाया, जो शर्मा जी में थी। शर्मा जी अपने काल के श्रेष्ठ विद्वान् माने जाते हैं। वे न केवल एक विद्वान् ही थे, बल्कि महापुरुष थे। मुझ जैसे एक साधारण जन पर आपकी जैसी दया थी, उसे देखते, कहना पड़ता है कि, आपका हृदय उचित से अधिक मात्रा में कोमल था। आप एक साहसी समाज सुधारक भी थे। परदा-प्रथा के भी आप प्रतिकूल थे। खान-पान के मामले में आपकी स्वतन्त्रता तो ग़ज़ब की थी।

शर्मा जी का रहन-सहन भी अत्यन्त सीधा-सादा था। मैंने कई बार पटने में आपको पतलून, "चमरौधा" जूता और सिर्फ गंजी पहने, हैट लगाये, बाजार में फल खरीदते देखा था। इस भेष में देखकर कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसने केवल शर्माजी का नाम सुन रखा हो, यह कभी भी मानने को तैयार नहीं होता कि विख्यात शर्माजी यही हैं। एक बार आप किसी सभा के सभापति हुए। सभा किसी स्कूल की

थी। आपके पास १००) राह ख़र्च के लिये भेजे गये। व्यवस्थापकों ने सोचा कि, शर्मा जी बड़ी शान से फ़र्स्ट क्लास से उतरेंगे, साथ में अरदली-चपरासियों का दल होगा। पर जिस समय शर्माजी थर्ड क्लास से एक बड़ा-सा गट्ठर लिये उतरे, उस समय स्वागत करनेवाले अवाक् हो रहे! देहाती भेष में शर्माजी पधारे। स्वागत-कारिणी के सदस्य चकित हो गये! ठीक समय पर सभा हुई। रेल किराये से जो रुपये बचे थे, शर्मा जी उनकी किताबें ख़रीद लाये थे। ये पुस्तकें विद्यार्थियों में बाँट दी गयीं। शर्माजी के धन का कितना सुन्दर उपयोग हुआ! सिद्धान्त-वादिता का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। गया में भी एक ऐसी ही घटना हुई थी, पर मैं उसका उल्लेख करना नहीं चाहता।

शर्मा जी स्वतन्त्र प्रकृति के थे। आपने कभी भी किसी की ख़ुशामद नहीं की। चाटुकारिता से आप सदा दूर रहे। काशी-हिन्दू-विश्व विद्यालय की नौकरी को महज़ छोटी-सी बात के लिए नमस्कार करके आप पटना चले आये थे।

बनारस में जब मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ था, उस समय आप एक छोटे से मकान में रहते थे। सम्भवतः दवा करवाने के विचार से आप काशी पधारे थे। काशी की पतली गलियों की किसी उलझन में आपका निवास-स्थान था। आज मैं उस गली का नाम-धाम भूल गया हूँ। "दीन जी" ने दो घण्टे तक जिस भूल-भुलैया में हमें दौड़ाया था, वह आज भी याद है। जब हम एक बन्द द्वार पर खड़े हुए, तो दीन जी हँसते हुए बोले—'इसी घर में शर्मा जी रहते हैं। काशी में एक-से-एक मकान आपके लिए प्रस्तुत हैं, पर औढरदानी शर्माजी की मौज का क्या कहना है!' सचमुच वह गली इतनी पतली थी कि, मोटी तोंदवाला कोई मारवाड़ी उसमें घुसने

का साहस नहीं कर सकता था । दीनजी ने अपने सुरीले-गले से खाँसकर हाँक लगायी—"कोई है ?" चार-पाँच हाँक लगाने के बाद भीतर से किसी के चलने-फिरने की आवाज़ आयी । उस आवाज़ से चलनेवाली की नाराज़ी प्रकट होती थी । मानों चलनेवाला अस्वाभाविक रीति से चिढ़कर ज़मीन पर पैर रख रहा हो । थोड़ी देर अचानक द्वार खुल गया । देखा, ठीक मुसलमानी ढङ्ग की—चार खाने—लुङ्गी पहने और कम्बल ओढ़े शर्माजी खड़े हैं । हमारे दल ने धड़ाधड़ प्रणाम किया । इसके बाद—?

इसके बाद हम लोग चुपचाप आपके बैठकखाने में बैठ गये और शर्माजी अपने स्वाध्याय में जुट गये । निष्ठुर नीरवता के दबाव से हम लोगों की चेतना निर्बल पड़ने लगी । पलकें भारी-सी हो गयीं । और जँभाइयों का मनहूस ताँता बँध गया ! दीनजी ने अपनी सेना को हतोत्साह देखकर शर्माजी का ध्यान भङ्ग किया । फिर तो ऐसी लच्छेदार बातें शुरू हुईं कि देखते-देखते सन्ध्या हो गयी ।

हिन्दी के प्राचीन साहित्य के भी शर्माजी एक ही विद्वान् थे । उन दिनों शर्माजी पेट के रोगी थे । पाचन-शक्ति की निर्बलता से आप परेशान रहते थे । लाचार हो काशी आये थे । काशी पहुँचकर आपने अपने रोग का कारण जानने के लिए निदान-सम्बन्धी ग्रन्थों का पढ़ना शुरू किया । परिणाम यह हुआ कि आप समस्त आयुर्वेद पी गये ! साथ ही होमियोपैथिक ग्रन्थों को आरम्भ कर डा० कोननडायल की जल-चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तकों को भी ख़तम कर दम लिया । इस "घोर" स्वाध्याय के कारण आपका रोग और भी बढ़ गया । बला से रोग बढ़ा, इसके बहाने शर्माजी को लाभ कितना हुआ ! न बीमार पड़ते और न इन ग्रन्थों का मनन करते ।

———
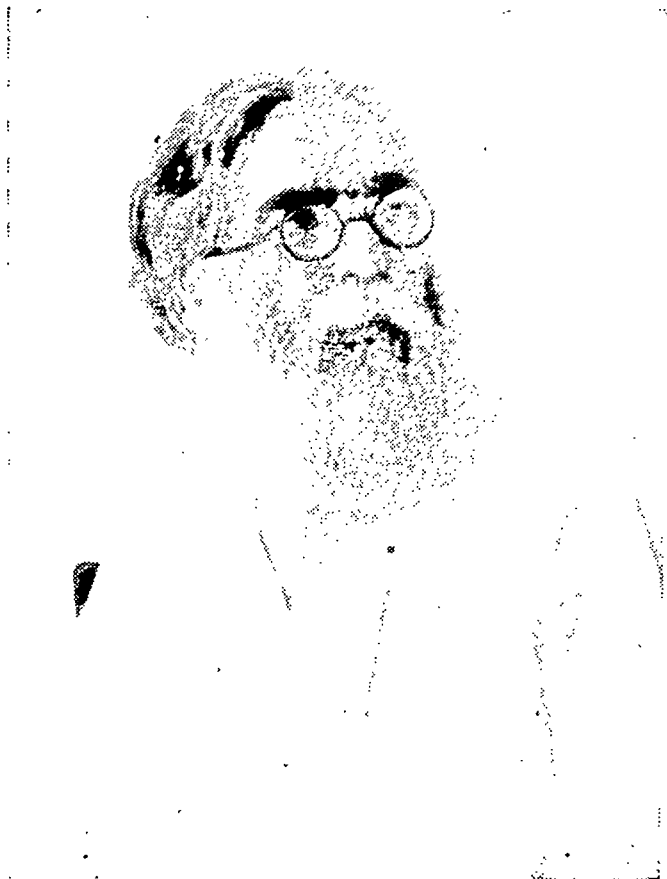
श्रीसंतनिहालसिंह

संत निहालसिंह

एक पुरानी स्मृति इस समय अचानक आकर मेरे दिमाग़ के द्वार खटखटाने लगी। बहुत दिनों की बात है—शायद बारह-तेरह साल की पुरानी। हिन्दी के एक विख्यात साहित्यिक गया पधार रहे थे। आपने मुझे अपने आने की सूचना दी। उन दिनों मैं साहित्यिकों के दर्शनों का भूखा था। दौड़-दौड़कर दर्शन-झांकी करता फिरता था। सूचना मिलते ही मैं तो कदम्ब के फूल की तरह फूला न समाया। दो-चार मित्रों को अपने भाग्योदय का समाचार देता हुआ इस सौभाग्य की घोषणा, आलस्य त्यागकर, मैंने की। मेरी छोटी-सी मित्र-मंडली में खलबली मच गई—प्याले में तूफ़ान उठ आया, बाढ़ आ गई, ज्वार-भाटा नज़र आने लगा। राम-राम कहकर वह दिन आ गया, जिस दिन साहित्यिक महोदय को आना था। दल बाँधकर मैं स्टेशन पहुँचा—एक मित्र से माँगकर अच्छा-सा मोटर भी ले आया। ठीक समय पर गाड़ी आयी। गाड़ी के साथ कुछ क़दम दौड़कर हांफते हुए हम व्यग्रतापूर्वक साहित्यिक महोदय को खोजने लगे। सब से पहले एक सेकेंड क्लास के डिब्बे में वेग से घुसा, तब दैत्य की तरह एक अँगरेज़ की झल्लाई-सी मूर्ति देखकर उल्टे पाँव लौट आया—ग़रज़ यह कि सेकेंड-फ़र्स्ट और इन्टर के तमाम डिब्बों में खोजने के बाद जब हम क़रीब-क़रीब हताश हो गये तब एक पतली-सी आवाज़ इंजन के पास से आई—"वियोगी जी।"

मैंने देखा, थर्ड क्लास के दरवाज़े पर अपनी कम्बल में बँधी गठरी के पास हमारे विख्यात साहित्यिक महोदय खड़े हैं। जो हिन्दी

राष्ट्र-भाषा होने जा रही है उसके अनन्य सेवक की यह दशा ! मैं अव
चकाकर जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। यह पुरानी बात है—मैं अप
साहित्यिकों की दशा पर आँसू बहाना नहीं चाहता; पर सच्ची बात
मुंह से निकल ही जाती है। जिस साहित्य के कलाकार।) पेज पर
अपने अन्नदाता प्रकाशक के लिए बँगला के सड़ियल बाज़ारू उप-
न्यासों का अनुवाद करके किसी तरह जीवित रहने का प्रयत्न कर रहे
हों उस साहित्य के विषय में चुप रहना भी पाप है और कुछ बोलना
या लिखना भी अपनी तौहीनी है। ऐसी दशा में हम क्या करें, सम
में नहीं आता।

यह संत साहब के संस्मरणों की मनहूस भूमिका है। मुझे इस बात
की प्रसन्नता है कि विश्व-विख्यात पत्रकार संत निहालसिंह (जिनके
विषय में यह सुना जाता है कि जब यह भारत का लाड़ला 'हाउस-आफ़-
कामन्स' में जाकर—प्रेस गैलरी में बैठता है तब वहाँ के वक्ताओं में
आतंक छा जाता है और वे सँभल-सँभलकर बोलने का प्रयत्न करने
हैं) के संस्मरण आज मेरी क़लम से लिखे जायँगे। विश्वास है, संसा
के विख्यात महापुरुषों के संस्मरण लिखनेवाले इस क़लम के धन
के संस्मरण लिखकर मैं अपने को, अपनी लेखन-कला को, अपने
लेखक-जन्म को धन्य बनाने में समर्थ हूँगा। मुझे संतोष होता, यदि
संत निहालसिंह की क़लम मेरे हाथ में होती !

पाठक अब अदब से सिर झुका लें। इन पंक्तियों के बाद वे संत
साहब के संस्मरण पढ़ना आरंभ करनेवाले हैं—इति।

(२)

संत निहालसिंहजी का नाम मैंने कब सुना था, यह याद नहीं; प
स्वर्गीय जायसवालजी प्रायः उनकी चर्चा किया करते थे। भारती
लेखकों में जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करना नसीब हुआ है, उनमें

संतजी का स्थान—डाक्टर जायसवाल के मत से—उच्च है ! 'सरस्वती' में प्रकाशित संत साहब के लिखे हुए संस्मरणों की चर्चा चलाने पर वे प्रायः दुःख भरे शब्दों में कहा करते थे कि—"संत जी का जितना साथ भाषा देती है उतना यदि मेरा—जायसवालजी का—देती तो मैं भी कुछ संस्मरण लिखता।" जायसवाल साहब चाँगकाई शेक, बनार्ड शा, वेल्स आदि की मुलाक़ातों की चर्चा चलाया करते थे और मुझे लिखने का आदेश भी देते थे। पर मैं फूस की नौका पर चढ़कर प्रशांत महासागर पार करने की हिम्मत रखनेवालों में अपनी गणना कराने की ग़लती कराने को क़तई तैयार न था। बीती बातों की चर्चा व्यर्थ है।

हाँ, तो संतजी के विषय में मैंने अधिक जानकारी जायसवालजी से प्राप्त की। उन्हीं से मैंने यह भी सुना कि संतजी कठोर परिश्रमी हैं तथा न तो काम करते हुए ख़ुद थकते हैं और न अपने सहयोगियों को दम मारने की फ़ुरसत देते हैं। यदि यह बात सही है कि "परिश्रम करने से ही कला और सफलता प्राप्त होती है" तो मैं अत्यन्त साहस-पूर्वक सन्तजी को नज़ीर के रूप में पेश करूँगा। आपका जीवन—जैसा कि जायसवाल साहब अकसर कहा करते थे—मूर्तिमान् 'अदम्य परिश्रम और उत्साह' है! अपनी जानकारी के बल पर मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि जायसवाल साहब ख़ुद आरामतलब मनुष्य थे। अधिक परिश्रम उन्हें मंजूर न था। मेज़ और कुर्सी पर जितना काम किया जा सकता है, उतना ही जायसवालजी को पसन्द था। निश्चय ही संत साहब का अथक परिश्रम उनके लिए एक लुभावनी चीज़ थी। वे चाहते थे, पसन्द करते थे कि संतजी की तरह ही परिश्रम किया जाना उचित है, पर उनसे वैसी कड़ी मेहनत संभव न थी, इसी लिए संतजी की परिश्रमी प्रकृति का वर्णन करके ही वे अपने को तृप्त कर लेते थे।

दूसरा उपाय भी तो नहीं था।

जो हो, संतजी के सम्बन्ध में जब मैंने जायसवाल साहब से कुछ सुना, तब मैं भी उनके दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठा। सुना इन दिनों संतजी देहरादून में हैं—गया और देहरादून में कित अन्तर है, यह भी मैं बतला सकता यदि इस समय मेरी मेज़ पर रेल का टाइमटेबिल होता। पाठक इतने से ही संतोष-लाभ करें कि मेरे-जैसे कार्यव्यस्त मनुष्य के लिए यह संभव नहीं कि मैं महज़ संत साहब के दर्शनों के लिए ही गठरी बाँधकर देहरादून की लम्बी यात्रा का महँगा शौक़ करने को उतारू हो जाता। मैंने सोचा—गया-जैसे खँडहर में संत साहब के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं होने का। इस उजड़े दयार में लन्दन और न्यूयार्क का रहनेवाला क्यों आने लगा। 'ह्वाइट हाल' और 'बकिंघम पैलेस'' के आदरणीय पत्रकार का गया-जैसे स्थान से क्या वास्ता!

कर्महीन दोपहरी—इसी फागुन का पहला सप्ताह! मैं चुपचाप लेटा हुआ कांग्रेस-प्रेसीडेन्ट के चुनाव की धमाचौकड़ी पर ग़ौर कर रहा था—एक समाचार-पत्र मेरे हाथ में था। राजनैतिक पटेबाज़ियों पर विचार करता-करता मैं कभी महात्माजी की नीति पर झल्ला उठता तो कभी सुभाष बाबू की तेज़ी पर! इसी समय मेरे मित्र पंडित गोविन्द-लालजी झंगर चप्पल घसीटते हुए पधारे। आप जब कभी पधारते हैं तब मुझे तो ऐसा लगता है कि उर्दू के कुख्यात कवि मियाँ चिरकीं ब्राह्मण के रूप में तशरीफ़ ला रहे हैं। कारण यह है कि चिरकीं की कविताओं के रूप में ही आपने कविता को पहचाना है—मतलब यह के आपको चिरकीं का पूरा दीवान कंठस्थ है और प्रायः चिरकीं की कविताओं के विषय में ही सोचा, बोला और लिखा करते हैं। भोजनो-प्रांत गलीज-प्रेमी चिरकीं का साहित्य किसे पसन्द होगा, यह बतलाना

झंगर भाई से लड़ाई मोल लेना होगा। भाई गोविन्दलाल को देखते ही मैंने समझा कि चिरकीं के कवितासागर का कोई क़ीमती रत्न आपके हाथ लगा है। पर आपने आते ही कहा कि "श्री विष्णुपदमन्दिर में संत निहालसिंह तुम्हें खोज रहे थे। वे गया-स्टेशन पर—अपने 'सैलून' में ठहरे हुए हैं। कई दिनों से तुम्हारी तलाश में हैं।"

सहसा मैं भाई गोविन्दलाल की बातों पर विश्वास करने को प्रस्तुत न था, पर मैं यह भी सोचने लगा कि कोई कारण नहीं कि वे झूठ बोलकर मुझे अकारण स्टेशन तक दौड़ाने का दायित्व अपने सिर पर लाद लेने की भूल करेंगे। मैंने पूछा—"संत जी, विष्णुपदमन्दिर में क्या करने गये थे ?"

झंगरजी कहने लगे—"वे अपने केमरे के साथ कई दिनों से मन्दिर में आ रहे हैं और चित्र उतार रहे हैं। उन्होंने कई बार तुम्हारी खोज की और ख़ास तौर से मुझे सूचना देने की हिदायत भी की है। संध्या-समय वे अपने सैलून में तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगे—मैं भी चलूँगा, चलना।"

मितभाषी गोविन्दलालजी इतना कहकर एक अख़बार पर टूट पड़े। यदि अख़बार पर उनकी दृष्टि न पड़ती तो मियाँ चिरकीं के दो-चार कलाम सुनाये बिना न रहते। मैंने धीरे से दो-तीन अख़बार उनकी ओर बढ़ाकर मानों एक बला से अपनी रक्षा कर ली। मैं भोजन कर चुका था और विष्ठाप्रेमी कवि चिरकीं की सूक्तिमुक्तावली से आनन्दोपभोग करने योग्य मनःस्थिति में न था।

मन-ही-मन संत निहालसिंहजी की बात सोचता रहा और अघटन-घटना-पटीयसी भगवति भवितव्यता की महिमा को मन ही मन प्रणाम भी करता रहा। सचमुच संत साहब 'गया' आये हैं—यह स्वीकार करने को मन तैयार न था। पर सत्य पर धूल उड़ाकर उसे

छिपाने का प्रयत्न करना निरी मूर्खता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

(३)

ज्यों त्यों करके संध्या आई। मैं स्टेशन की ओर चला। झंगरजी भी साथ थे। स्टेशन पहुँचकर देखा, प्रधान प्लेटफ़ार्म के दक्षिण छोर से ज़रा-सा हटकर एक सुन्दर गाड़ी—एकडिब्बा—खड़ी है। फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा अस्त होते हुए सूर्य की सुनहरी धूप में चमक रहा था। एक ओर .खूब सुन्दर छज्जी है और उसी डिब्बे में रसोईघर, स्नानघर, नौकरों के रहने का कमरा, सोने का कमरा, बैठने का कमरा आदि सब है। पूछने से पता चला कि १) या १॥) प्रति मील के हिसाब से इसका किराया रेलवे कम्पनी को देना पड़ता है—इसी का नाम है 'सैलून'। एक-दो बार एक महाराजा साहब के चलते 'सैलून' पर सफ़र करने का मौक़ा—उन्हीं के साथ—आया था। पर कोई पत्रकार या लेखक, यदि वह भारतीय हो तो, सैलून पर सफ़र करने की हिम्मत कर सकता है, यह एक नई बात है। इस लेख के आदि में जिन हिन्दी साहित्यिकों की मैंने दुःख के साथ चर्चा की है और जो थर्ड क्लास में पधारे थे उनकी स्मृति सैलून को देखते ही ताज़ी हो गई और मुँह से सहसा 'आह' निकल पड़ा। संत जी भी पत्रकार हैं, लेखक हैं और मेरे वे सज्जन भी पत्रकार और लेखक थे, किन्तु दोनों की स्थिति में कितना अन्तर है, बीच में कितनी चौड़ी खाई है, यह बतलाना कठिन है। उस खाई को मापना मेरे लिए असंभव है। हिन्दी हम भुखमरों की कातरवाणी है और अँगरेज़ी शासकों की .गुर्राहट—हिन्दी विनय करने की भाषा है और अँगरेज़ी डाँटने-फटकारने की। हिन्दी खादी की फटी साड़ी पहनकर गांव के उजड़े खेतों में घूमती-फिरती है, तो अँगरेज़ी तोप-बन्दूकों और हवाई जहाज़ों की छाया में

'बकिंघम पैलेस' में सुख के पालने पर झूलती हैं। संतजी ग़रीबी और धूल में पाली-पोसी गई ग़रीबिनी हिन्दी के सेवक नहीं, बड़े-बड़े दिग्विजयी सम्राटों के गर्वोन्नत मस्तक पर छत्र बनकर आदर पाने वाली अँगरेज़ी के हिमायती हैं। फिर वे क्यों बग़ल में कम्बल की बुकची दबाकर थर्ड क्लास में से धक्के खाते हुए उतरें। मैं सच कहता हूँ कि संत साहब का सैलून देखकर मुझे प्रसन्नता नहीं, पीड़ा हुई। अपनी ग़रीबी, जिसे हम प्रयत्न करके मन से भुलाये रहते थे, एकाएक स्पष्ट हो गई। मैंने संत साहब का चमकता हुआ शानदार सैलून नहीं देखा, बल्कि देखा अपनी दरिद्रता को, रोती-सिसकती। और दिखलाई पड़ा मुझे वह दिव्य सैलून खड़ा-खड़ा निष्ठुर परिहास करता हुआ। संत साहब अनुपस्थित थे। अपने नाम का कार्ड छोड़कर हम लौट पड़े। मेरा मन भारी हो गया था। बिजली के स्वच्छ प्रकाश से जगमगाते हुए प्लेटफ़ार्म की एक बेंच पर बैठकर मैंने प्रयत्न किया अपने मन को भारमुक्त करने का, पर प्रयत्न में इतना बल नहीं जो वह सत्य को ढकेलकर मन से बाहर कर दे। मेरे हृदय का भार सत्य था, 'प्रयत्न' तो लीपापोती को ही कहना चाहिए।

झंगरजी रुलासे स्वर में बोले—"भाई, संतजी से मुलाक़ात नहीं हो सकी। खैर, कल भी आना पड़ा। भाई कितना शानदार रहन-सहन है! क्या हमारे लेखक और पत्रकार.........!"

मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस बात को मैं बड़ी छटपटाहट के साथ सोच रहा था उसी बात को हमारा यह सीधा-सादा विद्वान् भाई भी सोच रहा है। मुझे संतोष हुआ कि मैं अपनी भावुकता के कारण कोई बात नहीं सोच रहा हूँ—जो भी समझदार या हृदयवान् व्यक्ति इस दृश्य को देखेगा, इसी नतीजे पर पहुँचेगा।

हम धीरे-धीरे स्टेशन से बाहर हो गये। बाहर निकलकर देखा,

ऊँचे-ऊँचे मकानों के ऊपर शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा उठ रहा है। हम चुपचाप घर की ओर चले—हम एक दमचुप थे। रास्ते में भी किसी ने कोई बात नहीं की। मन ही अस्वस्थ हो गया था! चुपचाप उ-सीनता का दुर्वह भार लादे घर पहुँचे।

(४)

कल जब संतजी के दर्शनों के लिए चला, तब मैं अकेला ही था। उनके अर्दली ने कहा कि—"साहब ने कहा है कि पंडितजी आवें तो उन्हें बैठाना।" मैं बोला—"मैं प्लेटफ़ार्म में टहलता हूँ। आ जायँ तो सूचना दे देना।" ह्वीलर की दूकान से अख़बार ख़रीदकर मैं बैठ गया। संध्या-समय बनारस जानेवाली गाड़ी सामने खड़ी थी—तरह-तरह की मूर्तियाँ नज़र आ रही थीं। प्रत्येक के चेहरे पर घब-राहट थी और वह घबराहट गाड़ी पर बैठते ही संतोष के रूप में बदल जाती थी। 'चाय रोटी, बिस्कुट', 'गरम चाय', 'पान सिगरेट' की सस्वर पुकारों ने अपना एक अलग समा बाँध रक्खा था। गोद में अख़बार रक्खे मैं एकटक यात्रियों को एकाग्रचित्त से देख रहा था कि संतजी का अर्दली आया और बोला—"साहब सलाम कहते हैं!"

× × ×

आपने कभी विश्व-विख्यात विद्रोही कार्लमार्क्स का चित्र देखा है?—घनी दाढ़ी, सिर बड़े-बड़े बालों से आच्छादित, पुष्ट शरीर! बस संतजी सामने से देखने में ठीक कार्लमार्क्स जैसे दिखलाई पड़ते हैं। दोनों के रूप में कितना साम्य है, यह एक आश्चर्य की बात है या मेरी आँखों की भूल, यह मैं आज तक नहीं सोच सका। मैं अपनी यह धारणा बदलने को तैयार भी नहीं हूँ—क्या मैं दोनों के रूप की तुलना करने में भूल कर रहा हूँ! यद्यपि संतजी पंजाबी

हैं, तथापि एक मुद्दत तक विदेशों में रहने के कारण उनके चेहरे का रंग ख़ूब साफ़ होकर कुछ-कुछ योरपियनों से मिल गया है।

बाहर ठंडी हवा चल रही थी, पर गाड़ी के भीतर क़दम रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं किसी ख़ूब गरम कमरे में आ गया हूँ। संतजी बैठे भोजन कर रहे थे, मेज़ की दूसरी ओर उनकी श्रीमती जी बैठी थीं। कई सुन्दर बिजली के झाड़ जल रहे थे—स्वच्छ प्रकाश से सारा सैलून जगमगा रहा था। भड़कदार वर्दी पहने ख़ानसामा प्लेट-पर-प्लेट मेज़ पर रख और उठा रहा था।

बड़े तपाक से उठकर संतजी ने हाथ मिलाया और तत्काल अत्यन्त पुराने परिचित की तरह देश-विदेश की चर्चा में हम निरत हो गये। थोड़ी देर के बाद एक प्रेस रिपोर्टर आया, जो दूर एक कुर्सी खींचकर बैठ गया। संतजी बोलते थे और बीच-बीच में बच्चों की तरह खिलखिला कर हँस पड़ते थे। ऐसी स्वच्छ हँसी, जिससे लाल झरते हों, मैंने कभी-कभी सुनी है। कोई स्वच्छ हृदय महा-पुरुष ही ऐसी पवित्र हँसी हँस सकता है। महात्माजी, रवीन्द्र आदि की हँसी से जिस आनन्द-लोक का सृजन हो जाता है, वैसी हँसी अन्यत्र सुलभ नहीं। श्रीमती सिंह गम्भीरतापूर्वक चाय में दूध मिलाती हुई बोलीं—"तुम चाय पीते हो—शक्कर दूँ या बिना शक्कर की चाय पीते हो।" मैं अदब से बोला—"धन्यवाद। मैं बिना शक्कर की चाय नहीं पीता—ब्राह्मण हूँ, इसलिए मीठा प्रिय है। यह अपना जातीय गुण है।" फिर हँसी—दोनों हँस पड़े। श्रीमती सिंह अमेरिकन हैं और हिन्दी नहीं समझतीं। यदि कुछ-कुछ समझती भी हैं तो बोल नहीं सकतीं। वे खद्दर की पोशाक पहने थीं। मैंने पूछा—"आप तो शुद्ध खादी धारण किये हैं। उन्होंने कहा—"मैं तो भारतीय हूँ। मदरास में यह खादी उपहार-स्वरूप मिली

थी। मैं बराबर खादी काम में लाती हूँ।"

संतजी ने भी खादी को ही अपनाया था। पतलून, क़मीज़ स
खादीमय। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। महात्माजी के सम्बन्ध में सं
जी के विचार अत्यन्त ऊँचे हैं। वे उन्हें न केवल एशिया के ही,
बल्कि समस्त संसार के सिरताज समझते हैं। महात्मा जी के सम्बन्ध
में संतजी के विचार पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हो चुका था।
'सरस्वती' में उनके संस्मरण पढ़कर ही मैंने समझ लिया था
संतजी का हृदय कितना भारतीय है। जिसके जीवन का श्रेष्ठ भाग
भारत के बाहर व्यतीत हुआ है उसमें यदि भारतीयता कम मात्रा
में हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, पर संतजी तो पूरे
भारतीय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में डूबने-उतरानेवाला पत्र
भारत के प्रश्न को उतना शायद ही महत्त्व देने को तैयार हो
क्योंकि उसका कर्मक्षेत्र योरप और एशिया के बड़े-बड़े राष्ट्रों
आँगन में है। किन्तु मैंने आश्चर्य के साथ यह अनुभव किया कि
संतजी की पैनी दृष्टि में भारत की एक बात भी छिपी नहीं है।
उन्होंने पूरी हमदर्दी और गहराई के साथ अपने घर के सवालों का
भी समुचित अध्ययन किया है। वे भारत की बातों को पक्के भ
राजनीतिज्ञों की तरह सोचते हैं।

बातों ही बातों में उन्होंने बतलाया कि वे एक ग्रन्थ लिख
हैं—भारत के सांस्कृतिक विकास पर। इसी उद्देश्य से उन्हें क़रीब
लाख मील का साहित्यिक दौरा करना पड़ता है। ६० हज़ार मील अ
और घूमना है। उन्होंने यह भी कहा कि क़रीब ६० हज़ार चि
उन्होंने खींचे हैं--- २०-२५ हज़ार चित्र और खींचने का विचार है
१६ मोटी-मोटी जिल्दों में पुस्तक समाप्त होगी। छाँट-छाँटकर २५
हज़ार चित्र पुस्तक में दिये जायँगे, पर कुछ कम भी दिये जा सकते

हैं। भारत-सरकार ने इस महान् कार्य में आपको पूरी सहायता पहुँचाई है। प्रान्तीय गवर्नरों ने भी पत्र लिख-लिखकर आपकी सहायता करने के अवसर का स्वागत किया है। मैं नहीं कह सकता, संत साहब की पुस्तक कैसी होगी, पर इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि पुस्तक लिखने की सामग्री जुटाने के मामले में सरकार का पूर्ण सहयोग संत जी को मिला है। संत जी एक महान् लेखक हैं—वे जो कुछ भी लिखेंगे वह अमूल्य चीज़ होगी। सरकारी सहायता से संत जी को भारतीय सभ्यता या संस्कृति-सम्बन्धी अपने विचारों को पुस्तक-रूप में उपस्थित करने की दिशा में, जो सहूलियतें मिली हैं वे कुछ कम मूल्यवान् नहीं हैं। ऐसी पुस्तक लिखने के मार्ग में जो कठिन बाधाएँ होती हैं उन पर संत जी ने शानदार विजय पाई है—इसमें संदेह की गुंजाइश; यदि हो भी तो वह अत्यन्त स्वल्प और नगण्यप्राय है। आपने कहा कि 'पच्चीसों साल से पुस्तक लिख रहे हैं। अब वह प्रेस में जानेवाली है। इसीलिए आवश्यक संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन की बारी आ गई है।''

रात अधिक हो गई थी। सुबह आने का वादा करके मैं चल पड़ा। मैं विचारों की उत्ताल-तरंगों में उछलता-कूदता घर पहुँचा।

(५)

एक बात मैं कहूँगा—हमारे बहुत से विद्वानों में ज़रूरत से अधिक आलस्य पाया जाता है। पंडित शिवकुमार शास्त्री अपने काल के बृहस्पति माने गये थे। पर उनका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक भी ऐसा ग्रन्थ, जिसे उन्होंने देश के कोविद-समाज को दिया हो, नहीं है। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, ज्ञानार्जन किया, चिन्तन किया, उससे हम पूरा लाभ नहीं उठा सके। यह एक ऐसी राष्ट्रीय हानि है जिससे देश की प्रगति खटाई में पड़ जाती है। इसके बाद पंडित रामावतार

जी का भी यही हाल हुआ। 'मुद्गर दूत' आदि दो-चार छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिख-लिखाकर उन्होंने भी अपनी राह ली। हाँ, 'कोश' की बात दूसरी ही है। सो भी शर्माजी का 'कोश' असम्पूर्ण है—कौन विद्वान उसकी पूर्त्ति करने का बीड़ा उठाता है, यही देखना है। एक जायसवालजी थे वे भी चलते बने। यदि वे हमारे बीच में होते भी तो अपने आलसी स्वभाव के कारण—मेरा विश्वास है—कुछ भी न कर पाते। स्वयं वही अपना बहुत-सा अधूरा काम छोड़ गये हैं। अपनी विश्वविख्यात 'हिन्दू पालिटी' के जोड़ का दूसरा महा-ग्रन्थ लिखना चाहते थे। दिन रात कठिन परिश्रम करके मैंने एक 'विषय-सूची' भी तैयार की थी, पर फल कुछ भी न हुआ। आज तक वह विषय-सूची मेरी मेज़ की दराज़ में, अपने विफल जीवन का भार लादे, पड़ी है। और-और जो मसाले संग्रह किये गये थे उनका क्या हुआ, भगवान् जाने। यद्यपि जायसवाल साहब ने बहुत कुछ लिखा है, तथापि मैं कहूँगा कि जितना वे लिख सकते थे उसका आधा से भी कम उन्होंने लिखा। कागज-क़लम से प्रायः घबराते थे—हँसी-मज़ाक, हाहा हीही—में ही अपना मूल्यवान समय व्यतीत कर देते थे वे परिश्रम-प्रिय कम और विनोद-प्रिय अधिक थे।

कितनी नज़ीरें पेश करूँ—न जाने क्यों हमारे भारतीय विवेचक लिखने से बहुत ही घबराते हैं। महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथजी झा एक ऐसे विद्वान् हैं जिनका सारा समय अध्ययन और लिखनेमें व्यतीत होता है। बुढ़ौती और अपने गिरे हुए स्वास्थ्य की अपेक्षा करते हुए झा महोदय जिस लगन से भारतीय साहित्य का वाङ्मय भांडार भर रहे हैं, यह आश्चर्य की बात है।

संत निहालसिंहजी चाहे जितने बड़े भारतीय हों, पर उन पर भारतीय साहित्य का जो ऋण है उससे वे शायद उऋण न हो सकें।

अँगरेज़ी-साहित्य को रत्नों से भरकर उन्होंने उसे अपना ऋणी बनाया पर भारतीय साहित्य को, जिसका ऋण उन पर है, उन्होंने अपने ज्ञानलोक से वंचित ही रक्खा। कितने परिताप की यह बात है!

संत साहब की सेवा में मैं दूसरे दिन सुबह उपस्थित न हो सका। पेट की प्रेरणा से मैं गृहकर्म में ही उलझा रहा। दोपहर को वे विष्णु-पदमन्दिर में आनेवाले थे। मन्दिर के दरवान ने आकर उनके आने की सूचना दी।

विष्णुपदमन्दिर में अपना क़ीमती केमरा लिये संत साहब को देखा। आप बड़े ज़ोर से हँसकर बोले—"आ गये तुम! अच्छा मेरी सहायता करो।" मैं सहायता की बात नहीं समझ सका, पर एक सिपाही की तरह 'अटेंशन' में खड़ा हो गया। खद्दर की मोटी कमीज़, देशी कपड़े की पतलून और सिर पर बड़ा-सा हैट रक्खे संत साहब बड़ी लगन से पुरानी मूर्तियों का निरीक्षण करते रहे। बीच-बीच में वे मुझसे भी पूछते जाते थे—"जायसवाल जी इस मूर्ति के विषय में क्या कहते थे? इस मूर्ति के सम्बन्ध में उनका क्या मत था? इस टूटी मूर्ति का समय वे क्या बतलाते थे?"

जायसवाल साहब के चरणों में बैठने से पुरातत्त्व के सम्बन्ध में क ख पढ़ने का सौभाग्य किसी को भी प्राप्त हो सकता था, बशर्ते कि उस व्यक्ति के भीतर अपने अतीत के लिए ज़रा भी स्नेहमय स्थान हो। मैं नहीं कह सकता कि अपने विषय में मेरा क्या मत है, पर मुझे सन्तोष हुआ कि संतजी प्रायः मेरी राय से सहमत हो जाते थे और कभी-कभी तो अपना नोट दिखलाकर साथ के एक दूसरे सज्जन से आप कहते थे कि—"देखो, मैंने भी यही बतलाया था। मैंने यही नोट किया है—देखो!"

विष्णुपद का मन्दिर चारों ओर इमारतों से घिरा हुआ है। बीच

में इतना स्थान नहीं कि पूरे मन्दिर का चित्र उतारा जा सके। सं
इस फ़िक्र में केमरा घसीटे फिरते थे कि कहीं से पूरे मन्दिर का चि
खींचने का मौक़ा हासिल हो। दुःख है कि वे इस प्रयत्न में असफल
रहे। बग़ल में एक मकान था, जिसकी छत पर से मन्दिर का ती
चौथाई हिस्सा नज़र आता था। मकान पुराना अन्धकारमय और कुछ
कुछ बे-मरम्मत भी था। बराबर ताला बन्द रहने के कारण उस
का वातावरण मनहूस हो गया था। संतजी ने उसकी छत पर चढ़ने
की इच्छा प्रकट की। ताला खोला गया, पर अँधेरी सीढ़ियों
चढ़ना कठिन था, जो चमगादड़ों की बीट से भरी हुई थीं। जब ह
उस घर में घुसे तब चमगादड़ों को हमारी यह हरकत बुरी लगी।
वे हमारे सिर पर झुंड-के-झुंड उड़ने लगे। उनके पंखों की हवा
हमारी गर्दन और मुँह में लगने लगी। सील और नमी के कारण
वातावरण में एक ख़ास तरह की बदबू भरी हुई थी। राम-राम करके
हम छत पर पहुँचे। मुझे तो ऐसा लगा कि कहीं पुरानी छत हम लोगों
को लिये धर्रा कर बैठ न जाय। लगन भी बुरी बला होती है।
संत जी का ध्यान इस ओर न था। संत जी बोले—"यहाँ से भी
मन्दिर का पूरा हिस्सा नज़र नहीं आता।" यदि उनका वश चलता
तो वे मन्दिर के चारों ओरवाले कमरों और छज्जों को तुरन्त
तुड़वा कर ही दम लेते। वे दुःख भरे शब्दों में कहने लगे—"भला
इन भद्दी इमारतों की क्या ज़रूरत थी। इतना सुन्दर मन्दिर और
इस बुरी तरह घिरा हुआ! इसे तो खुले मैदान में होना चाहिए था!"

इमारत बनाने वालों को यह क्या मालूम कि किसी समय "भारत
के सांस्कृतिक इतिहास" के लिए इस मन्दिर के चित्र की आवश्यकता
पड़ेगी। कभी कभी जायसवाल साहब पटना के 'गोलघर' को देख
कर कहा करते थे कि—"इसे शहर के बीचो-बीच में बनवाना चाहिए

था।" यदि कोई तरीक़ा निकल आता तो वे अवश्य ही 'गोलघर' को घसीट कर शहर के बीच में स्थापित कर देते—भले ही उस भद्दे गोलघर से शहर की शोभा नष्ट हो जाती, पर जायसवाल साहब को तो संतोष ही होता। अपने संतोष के लिए मानव न जाने क्या-क्या करने पर उतारू हो जाता है! यह तो तुच्छ "गोलघर" और पटने की शोभा की ही बात थी।

चित्र खींचते-खींचते संध्या हो गई और मकान के निचले दो खंड अन्धकार में डूब गये। ख़ास तौर से सीढ़ियाँ तो सुरंग-सी जान पड़ने लगीं। संत साहब घबराये। बड़ी कठिनता से मेरे कन्धों का सहारा लेकर वे नीचे उतरे। यदि मेरे पैरों में चप्पल के स्थान पर अंग्रेज़ी जूते होते तो निश्चय ही मैं संत साहब को लिये हुए सभी सीढ़ियों को लुढ़ककर पार कर डालता और परिस्थित चिन्ताजनक हुए बिना न रहती! संत साहब का शरीर भारी है, पृथुल है। मैंने अनुभव किया कि मेरे दोनों कन्धे इतने दुख गये हैं कि या तो मैं हल में जोत दिया गया होऊँ या ईंटें लदी हुई किसी पुरानी बेढङ्गी बैलगाड़ी में। सीढ़ियों के संकट से मुक्त होने पर जितनी प्रसन्नता मुझे हुई, उतनी हमारे साथियों में से किसी को भी न हुई होगी।

संतजी की एक विचित्रता को मैं कभी भूलने का नहीं। मैं उन्हें कुछ नोट लिखवा रहा था। मैं १५-१६ मिनट लगातार बोलता और वे दो-तीन पंक्तियों में मेरी पूरी बातों का सारांश विचित्र ढङ्ग से लिख लेते। तारीफ़ यह कि मेरी सभी बातें कुछ शब्दों में समा जातीं। भाषा पर ऐसा अभूतपूर्व अधिकार मैंने अन्यत्र नहीं देखा। नोट लिखने में निश्चय ही संत साहब अपना जोड़ नहीं रखते। मैंने अनुभव किया कि एक श्रेष्ठ पत्रकार में इस विशेषता का रहना स्वाभाविक और आवश्यक है।

संत साहब का शाही सैलून स्टेशन पर ही लगा हुआ था। दिन-
रात इंजनों और गाड़ियों का आना-जाना लगा रहता था। कुछ
देर वहाँ बैठकर मैंने यह अनुमान लगाया कि यहाँ एक कार्ड
लिखना अपनी मानसिक एकाग्रता पर अत्याचार करना है।
इंजन हाहाकार करता हुआ आया, फिर मालगाड़ी की लम्बी प
शुरू हो गई—गरज़ यह कि हर घड़ी कुछ-न-कुछ शाब्दिक उपद्र
होता ही रहता। मैंने देखा, एक विशाल इंजन संत जी के सैलून
के सामने आकर काला-काला धुआँ उगलने लगा। बावर्ची, अर्दली
दौड़े—उसे खदेड़कर वे लौटे भी न थे कि सीटी देता हुआ दूसरा
आया। सच पूछिए तो बैठा-बैठा मैं घबरा उठा। मुझे संतजी
धारा-प्रवाह सवालों का उत्तर देना पड़ रहा था। मैंने उ
झिझकते-झिझकते पूछा—"यहाँ तो बड़ा शोर रहता है। आपक
काम तो शान्ति का है।"

संतजी मेरा प्रश्न सुनते ही पहले तो बड़े ज़ोर से हँसे और फिर
कहने लगे—"मुझे ऐसे वातावरण में काम करने का अभ्यास हो
गया है। यात्रा में ही मैं लिखा करता हूँ। रेल और जहाज़ पर
लिखते-पढ़ते मुझे एकाग्र हो जाने की आदत-सी पड़ गई है। पहले-
पहल जिस अख़बार के दफ़्तर में मुझे काम करना पड़ता था, वहाँ
बड़ा हंगामा रहता था। मेरे कमरे में दर्जनों सम्पादक और रिपोर्टर
बैठते थे। बग़ल के कमरों में अनगिनत टाइपराइटर अपनी पूरी
"स्पीड" में काम करते थे। निचले खंड में विशाल प्रेसों की
हड़हड़ाहट रात-दिन घर को दहलाती रहती थी—उस पर प्रेस-कर्म-
चारियों का और आने-जानेवालों का कोलाहल ऊपर से। हम
अपनी-अपनी मेज़ पर सिर झुकाकर देश-विदेश की बातें सोचते

लिखते, संशोधन करते और प्रत्येक ५ मिनट पर प्रेस के छोकड़े को 'मैटर' देते जाते। हम १०-१५ पंक्तियाँ काग़ज़ के टुकड़े पर लिख-लिखकर प्रेस में भेजते जाते थे। यह भी याद रखना पड़ता था कि क्या लिखकर प्रेस में भेजा है और अब क्या लिखना है। मैं शोर-गुल में बैठकर काम करने का अभ्यासी हो गया हूँ।"

मैं अवाक्भाव से सुन रहा था और संतजी बोल रहे थे। मुझे याद है कि १९१९ ईसवी के अपने तूफ़ानी दौरे में महात्मा गांधी को मैंने इसी तरह दो-दो पत्रों का सम्पादन करते अपनी आँखों से देखा था। दिन भर में १०-१० सभाओं में आप व्याख्यान देते और दौड़ते हुए मोटर पर ही सोते। इतना ही नहीं—लेख भी लिखा करते। उन दिनों अँगरेज़ी में 'यंग-इंडिया' और हिन्दी तथा गुजराती में 'नवजीवन' प्रकाशित होता था। अँगरेज़ी और गुजराती के पत्रों में महात्माजी को प्रतिसप्ताह लिखना पड़ता था। अपने व्यस्त कार्य-क्रम में भी दिन-रात के कामों की नियमितता अक्षुण्ण रखना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। उस पर सुव्यवस्थित दिमाग़ से लेख लिखना तो अत्यधिक शान्तधी का ही काम हो सकता है। महात्माजी के लेखों के एक-एक शब्द पर संसार के बड़े-बड़े विवेचक विचार करते हैं—ऐसी स्थिति में उनका कुछ भी लिखना कितना उत्तरदायित्त्वपूर्ण है, यह बतलाना न होगा। अपने को उस होहल्ले में महात्माजी कैसे व्य-वस्थित रखते होंगे, यह वही बतला सकते हैं। यह तत्त्व मेरी समझ के परे की चीज़ है।

जायसवालजी में यह बात न थी। वे लिखते-पढ़ते समय घड़ी का टिक्-टिक् शब्द भी सहन नहीं करते थे। वे कहा करते थे कि "लेखक का लिखने-पढ़नेवाला कमरा हिमालय की किसी गुफ़ा की तरह शांत होना चाहिए, जहाँ मानव क्या, एक चिड़िया भी नहीं जा सकती।"

संतजी गुलगपाड़े की—शोर-गुल की—क़तई परवाह नहीं करते। अख़बार के आफ़िस में काम करते-करते तथा लगातार यात्रा में रहने के कारण अपने आपको स्वस्थ कर लेने की प्रचंड क्षमता उनमें उत्पन्न हो गई है। उन्होंने बड़े उल्लास से यह बात ज़ाहिर की कि अब तक तीन बार भू-प्रदक्षिणा कर चुके हैं। चौथी बार के लिए तैयारी कर रहे हैं। यात्रा के सम्बन्ध में आपकी राय है कि—यह सारा विश्व-प्रपंच एक विशाल विश्वविद्यालय है। एक अरबी लोकोक्ति (अस्सफ़रो वसील तुज्जफ़र) के अनुसार "यात्रा सफलता की कुंजी है।"

लोकोक्ति चाहे जो कहे, पर संत साहब के लिए उनकी यात्रा-प्रियता फलवती हुई। न जाने संसार में कितने ऐसे अभागे हैं जो घर-द्वार छोड़कर मारे-मारे फिरते हैं, पर उन्हें किस बात की सिद्धि प्राप्त होती है, यह आज तक प्रकाश में नहीं आया। मानसरोवर में बगले और हंस दोनों ही बैठते हैं, पर अपने-अपने गुण-कर्म के अनुसार अलग-अलग फल दोनों को मिलते हैं—बगले तो मछलियों की खोज में रहते हैं और हंस मोतियों की तलाश में। विश्व-मानसर के कूल पर हंसों और अभागे बगलों की कमी नहीं। संत निहालसिंहजी ने जिस विश्व-भ्रमण से अकथनीय लाभ उठाया है वही विश्व-भ्रमण करके हमारे एक परिचित बन्धु आजकल धूलि की रस्सी बटा करते हैं!

विष्णुपद-मन्दिर से सूर्यास्त होते न होते सैलून में हम लौटे। मैंने देखा श्रीमती निहालसिंह सैलून की छज्जी पर खड़ी-खड़ी पथ निहार रही हैं! वृद्ध दम्पति का यह स्नेह इस पाप-तापमय संसार के लिए अभिनव स्वर्ग की सृष्टि करनेवाला है।

पश्चिम दिशा में सूर्यास्त हो रहा था। श्रीमती सिंह छज्जे पर झुकी हुई रास्ते की ओर देख रही थीं। उनके लाल चेहरे और कर्पूरनिभ श्वेत बालों पर अस्तंगत दिनमणि की सुनहरी विभा बड़ी ही

कोमलता के साथ चमक रही थी। लुभावना दृश्य था।

हम धीरे-धीरे सैलून में पहुँचकर थके-से बैठ गये। उत्सुक श्रीमती जी संत साहब से दिन भर के काम का हाल पूछने लगीं। संत साहब उन्हें बतलाने और हँसने लगे।

'वेरा' आया और मेज़ पर भोजन की गरमागरम रकाबियाँ रखकर चला गया। सैलून भोजन की सुगन्ध से भर गया। संत जी हँस-हँस-कर भोजन करने लगे और अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा छिड़ गई।

देखते-देखते दिन का प्रकाश स्टेशन के भद्दे क्वार्टरों के उस पार जाकर समाप्त हो गया।

(७)

संतजी आडम्बर-प्रिय नहीं कहे जा सकते। आप अत्यन्त मामूली काग़ज़ की नोट-बुक पर लिखते हैं, जो बाज़ार में =) में मिल सकती है। साधारण-सी जिल्द और)। की पेंसिल। बस, यही सामान। आपके अक्षर छोटे-छोटे और गोल-गोल होते हैं—बड़ी तेज़ी से लिखते हैं। नवयुवकों की तरह ख़ूब दृढ़तापूर्वक क़लम पकड़ते हैं और दबाकर लिखते हैं। यदि पतला काग़ज़ हो, तो क़लम दो-तीन पन्नों को पारकर जाय। पूछने पर आप कहने लगे—"पंडित जी, मैं आडम्बर से चिढ़ता हूँ। सादगी ज़िन्दगी का प्रधान गुण है। मेरा भोजन, मेरे कपड़े— मैं प्रयत्न करता हूँ कि मेरे जीवन में आडम्बर न घुसने पावे। हम (श्रीमती सिंह की ओर इशारा करके) अत्यन्त सादा भोजन पसन्द करते हैं—बस, रोटी, फल, दूध थोड़ा-सा मांस। मसाले से परहेज है - शक्कर की बनी चीज़ें हम नहीं छूते।

बड़े बड़े महापुरुषों में - जायसवाल जी को छोड़ कर—मैंने सादगी का शुद्ध रूप देखा है। जायसवाल साहब खाने-खिलाने के शौ थे। राजसी भोजन—ख़ूब मिठाइयाँ और दामी-दामी फल।

भोजन की मेज़ दर्शनीय होती थी ! खाते-खाते जब पेट तन
जाता तब वे अपने नेपाली रसोइये को कोई-न-कोई नई चीज़
बनाकर लाने का आदेश देते थे। संत साहब ने बड़े ही
दुःखपूर्ण शब्दों में कहा—"मैंने डाक्टर जायसवाल को कई
बार समझाया कि "मीठा खाना बन्द करो और सादा भोजन करो।"
पर उन्होंने इस ओर ध्यान ही कहाँ दिया ! 'डाइबिटीज़' के पुराने
मरीज़ थे। अन्त में इसी मर्ज़ ने उन पर विजय पाई ! 'डाइबिटीज़' के
रोगी को मिठाइयों से परहेज़ रखना चाहिये।"

मैं चुपचाप बैठा सुनता रहा। यद्यपि सादा भोजन बढ़िया होता है
तो भी जो केवल अपने को जीवित रखने के लिए ही दवा के रूप में
भोजन करते हैं उनके लिए सादे भोजन का महत्त्व है, पर हमारे-
जैसे जीव जो केवल भर पेट नाना प्रकार के मिष्ठान्न-पक्वान्न खाने के
लिए ही इस धराधाम पर अवतरित होकर जी रहे हैं उनके लिए संत
जी की बातें निरी अनोखी होंगी। मैं स्वयं खूब मसाले और मिठाइयाँ
खाता हूँ। मरूँ या चिरजीवी होऊँ, भला उबाली हुई सब्ज़ी और
चोकर की रोटी खाकर जीवित रहना तो मर जाने से भी कष्टदायक
है। भले ही मसालों और मिठाइयों के चलते साल में एक-दो दर्जन
बार उपवास करना पड़े—इसकी मुझे तनिक भी परवा नहीं। डा
जायसवाल का कथन भूलने लायक़ नहीं है। आम के दिनों में
आप एक दर्जन 'मालदह' आम अपने सामने रखकर बैठते थे त
कहा करते थे—"बेटा, भूखों मरने से सुखद है खाते-खाते मर जाना।"
इतना बोलकर आप आम खाना शुरू करते थे और तब तक खाते
रहते थे जब तक सभी आम नहीं खा जाते थे। मैंने संत साहब
की मेज़ पर नज़र डाली, तब देखा—उबाले हुए आलू, शाक, गोभी
और दो-चार रूखी रोटियाँ। एक प्याला चाय, जिसमें शक्कर

नदारत और थोड़ा-सा पका हुआ (उबाला हुआ ?) मांस ! आप बड़ी रुचि से भोजन कर रहे थे। श्रीमती सिंह प्रायः 'प्रोटिन' ही काम में लाती हैं। 'विटामिन और 'प्रोटिन' के अतिरिक्त आप लोग दूसरी चीज़ों की ओर आँख उठाकर देखते भी नहीं—खाना तो दूर की बात है। सिगरेट-शराब भी नहीं छूते—सादा, साफ़ हलका भोजन !

सादगी संतजी की आदत में घर कर गई है। मैं नहीं समझता कि योरप और अमरीका में रहनेवाला, उस पर भी अन्धाधुन्ध कमाने वाला व्यक्ति कैसे इतनी सादगी को अपना सका। श्रीमती सिंह तो संतजी से भी एक क़दम आगे नज़र आईं। यह गुण किसने किससे सीखा, यह बतलाना कठिन है। मुझे तो इसी बात का आश्चर्य है कि गुण, कर्म, स्वभाव की एक ऐसी एकरूपता दो ऐसे व्यक्तियों में, जिनकी संस्कृति और जिनका देश एक दूसरे से हज़ारों मील के फ़ासले पर हो, कैसे पाई जा सकती है। संतजी भारतीय हैं और उनकी श्रीमतीजी अमेरिकन। फिर भी दोनों के गुण, कर्म और स्वभाव में आश्चर्य-जनक मेल है, अद्भुत ऐक्य है। यह भी एक तरह की अनहोनी घटना-मात्र है।

दूसरे दिन मैं सुबह ६॥ बजे संतजी की सेवा में उपस्थित हुआ। आपने इसी समय बुलाया ही था। स्टेशन का प्रभात-वर्णन पत्थर के कोयले के गला घोंटनेवाले धुएँ से आरम्भ करना चाहिए। मन्द-मलयानिल के स्थान पर हलवाइयों और चायवालों के चूल्हों से जो काला-काला गंदा धुआँ निकल रहा था उससे वातावरण दुर्गन्धमय हो उठा था। 'फ़िनाइल' से धोये जाने के कारण सारा स्टेशन फ़िनाइल-मय हो रहा था। काले-काले भद्दे कोट पहने टी० टी० आई० यत्र-तत्र टहल रहे थे। अपनी नाइट ड्यूटी समाप्त करके कुछ बाबू उदास मुँह लिये रिक्शाकुली से झगड़ रहे थे। उन्हें दूर—अपनी 'वियोगिनी' के

पास जाना था। क्या जीवन है इनका भी !

इसी चहल-पहल में मैं अपने बन्धु पन्नालाल के साथ संतजी के सैलून के सामने उपस्थित हुआ। उस समय आप एक सज्जन को कु पत्र लिखने का आदेश दे रहे थे और खुद सुबह का भोजन समाप्त कर की धुन में थे। आज मैंने उनके सामने दो-तीन संतरे भी देखे ! वे खूब प्रसन्न दिखलाई पड़ते थे।

संतजी में एक विचित्रता है। वे किसी प्रश्न का उत्तर नहीं देते। प्रश्न करने में तो वे एक ही हैं। प्रश्न पर प्रश्न करके वे आगन्तुक की जानकारी का दिवाला निकालकर ही दम लेते हैं। मैं घर से सोचकर चला था कि आज संतजी को प्रश्न करने का मौक़ा नहीं देना चाहिए। बैठते ही मैंने पूछा—"आप 'हिन्दुस्तानी' के विषय में क्या सोचते हैं? कुछ देर तो सन्त साहब सोचते रहे, फिर अत्यन्त गम्भीर होकर बोले—"हिन्दुस्तानी का प्रचार होना चाहिए। न कठोर संस्कृत-शब्दों की भरमार हो और न अरबी-फ़ारसी कं हिन्दुस्तानी-भाषा भारत की भाषा कही जायगी।"

मैंने फिर पूछा—"कुछ लोगों का यह मत है कि मुसलमानों कं प्रसन्न करने के लिए या उन्हें अपनी ओर खींचने के लिए हिन्दी का रूप बिगाड़ा जा रहा है। इस प्रयत्न से वे हिन्दी पढ़ सकेंगे, तो सांस्कृतिक ऐक्य हो जायगा।"

संतजी ने कहना शुरू किया—"पंडित जी, यदि यह बात सही है तो मैं कहूँगा कि हिन्दुस्तानी के हिमायतियों को एक बार फिर से ग़ौर कर लेना चाहिए। कल क्या होगा, यह पता नहीं; पर आज तो मुसलमानों ने हिन्दुओं और भारतीयता का विरोध करने का मानों निश्चय-सा कर लिया है। वे हिन्दुस्तानी के प्रचार को भी मुस्लिम-संस्कृति के लिए अवांछनीय समझ सकते हैं। जब उन्होंने सोचने

का अपना तरीक़ा ही बदल डाला है तब इस तरह के सभी प्रयत्न बेकार साबित होंगे।"

थोड़ा ठहरकर संतजी ने फिर कहना आरम्भ किया—"यह बात भी बुरी है कि हिन्दी के हिन्दू लेखक तो अन्धाधुन्ध संस्कृत-शब्दों को अपनी भाषा में भरते जायँ और मुसलमान अरबी-फ़ारसी के शब्दों को। इस होड़ का नतीजा होगा दोनों भाषाओं का धीरे-धीरे छोटे दायरे में सिकुड़ते जाना। आप लोग अपने तरीक़े पर हिन्दुस्तानी का मज़े में प्रचार करें, पर यह सोचना ग़लत होगा कि इससे मुसलमान हमारे निकट आते जायँगे। उनका हृदय-परिवर्तन इस प्रयत्न से नहीं होने का।"

संतजी की स्पष्ट राय की क़द्र सभी करेंगे। हम तो यह सोचते हैं कि यदि हमारी भाषा में ख़ूबी होगी तो वह विश्व-भाषा बन जायगी। ग़ुलामों और दरिद्रों की भाषा होकर भी हिन्दी ने बिना राजकीय संरक्षण के जो गौरव प्राप्त किया है उसका कारण उसकी निजी विशेषता-मात्र है। यदि अँगरेज़ी की तरह हिन्दी को राज-सम्मान मिलता, तो आज हम देखते कि चेम्बरलेन और हिटलर हिन्दी में ही अपनी बात-चीत आरम्भ करते; क्योंकि अँगरेज़ी और जर्मन-भाषा का माध्यम हिन्दी ही रहती, उसी तरह जैसे क़ाबुली और बंगाली आपस में विचार-विनिमय करते समय पश्तो और बँगला के बदले में हिन्दी को ही काम में लाते हैं। संभवतः मेरी आशावादिता सीमोल्लंघन कर गई हो, पर जिस भाषा में सबसे पहले-पहल 'मां' को पुकारकर मातृस्नेह से भरा चुम्बन पाया था उस भाषा के लिए मैं ऊँची-से-ऊँची बात सोचने, बोलने और लिखने में अपने को ज़रा भी कुंठित नहीं पाता।

हां, एक बात यह है कि संतजी भी दबी ज़ुबान से 'रोमन-लिपि'

की वकालत करते हैं। उन्होंने कहा—"रोमन उतनी बेढङ्गी लि[illegible] नहीं है। थोड़ा-सा यदि संशोधन कर दिया जाय तो भारत में उसका प्रचार हो सकता है।"

मैंने ज़ोर देकर पूछा—"जी नहीं—मैंने सुना है कि नागरी [illegible] स्थान पर रोमन-लिपि का झंडा उड़ाना कुछ लोग पसन्द करते हैं। आप अपनी राय दीजिए। मैं यही सुनने को उत्सुक हूँ।

संत जी ने कहा—"यदि रोमन-लिपि का प्रचार हो जाय तो जो देवनागरी नहीं पढ़ सकते उनके लिए हिन्दुस्तानी सहज हो जायगी।"

मैं अधिक लिखना नहीं चाहता। संतजी के विचार नागरी के सम्बन्ध में चाहे जैसे हों, पर महात्मा गांधी के एक लेख की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर देना बुरा न होगा।

महात्मा गांधी लिखते हैं—हिन्दुस्तान में सर्व-मान्य हो सकनेवाली अगर कोई लिपि है तो वह देवनागरी ही है।..........अगर हम रोमन-लिपि को दाख़िल करें तो वह निरी भार-स्वरूप ही साबित होगी और कभी लोकप्रिय नहीं बन सकेगी।"

महात्मा जी रोमन-लिपि के विषय में लिख रहे हैं:—"रोमन-लि[illegible] का मुख्य लाभ इतना ही है कि छापने और टाइप करने में य[illegible] लिपि आसान पड़ती है। किन्तु मनुष्यों को इसे सीखने में जो मेहनत पड़ेगी उसे देखते हुए इस लाभ का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं।...... करोड़ों हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए भी देवनागरी का सीखना आसान है; क्योंकि अधिकांश प्रान्तीय लिपियाँ देवनागरी से ही निकली हैं।"

मुसलमान जिस जिस प्रान्त में बसे हैं उस प्रान्त की लिपियों और बोलियों को, जीवन के लिए स्वभावतः अपनाते ही हैं। ऐसी दशा में उन्हें सहज ही देवनागरी सिखलाई जा सकती है। महात्माजी

के विचारों की लम्बी व्याख्या करना उचित नहीं, पाठक क्षमा करेंगे। अतएव मैं अपने प्रधान विषय की ओर ध्यान देना उचित समझता हूँ।

दोपहरी हो गई थी। प्लेटफ़ार्म पर फागुन की धूप चमक रही थी। स्टेशन में प्रायः सन्नाटा था, क्योंकि कोई 'ट्रेन टाइम' नहीं था। अलसाये से स्टेशन के कर्मचारी और कुली इधर-उधर घूम रहे थे। शान्त शैलून की खुली खिड़कियों से मैं देख रहा था—भाग्य-रेखा की तरह लोहे की कठोर लाइनें और उनके बाद छोटे-छोटे मकानों की बेढङ्गी क़तार जिसमें से धुआँ उठ रहा था और बाहर कुछ बच्चे खेल रहे थे। सड़क पर तीन चार बैलगाड़ियाँ धीरे धीरे जा रही थीं। सारा दृश्य उदास था।

(८)

मुझे, मेरे एक आदरणीय कृपालु सज्जन ने, संतजी को 'डिनर' के लिए निमन्त्रण देने का आदेश दिया था। उक्त सज्जन लेफ़्टिनेन्ट कर्नल हैं। जब मैंने संतजी से निवेदन किया तब आपने प्रसन्न-चित्त से न्योता स्वीकार कर लिया। ठीक ब्राह्मण की तरह हँसकर सन्त जी बोले—"हाँ, मैं दोपहर के भोजन में अवश्य शरीक होऊँगा। तुम उन्हें सूचना दे दो।" ठीक इसी समय श्रीमती सिंह ने एक बाधा उपस्थित कर दी। उन्होंने कहा—"मैं तो ख़ास तरह का भोजन पसन्द करती हूँ। मेरे लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए।"

मैं अकचकाया। मेरे साथ एक सज्जन थे, जो कई बार विदेश-यात्रा कर चुके हैं और बड़े-बड़े 'हिज़हाईनेसों' की सेवा में रह चुके हैं। मैं उनकी बुद्धि पर बड़ा विश्वास करता हूँ—और चाहिए भी। ने अपने मित्र को इशारा किया, तब उन्होंने तुरन्त काग़ज़ क़लम कर श्रीमती जी से उनके खाद्य-द्रव्यों की तालिका पूछनी आरंभ

कर दी। अँगरेज़ी खाद्य द्रव्यों के हज़ारों नाम मेरे उक्त पर्य्यटक को याद हैं। उन्होंने तत्काल समझ लिया कि श्रीमती सिंह किस का भोजन पसन्द करती हैं। वे मोटर से लेफ़्टिनेन्ट कर्नल को सूच देने गये और मैं स्टेशन के भोजनालय में उदर-ज्वाला निर्वापित कर घुसा। मैंने समझ लिया कि अब २ बजे भोजन भगवान् से भें होगी। न्योता जीमने की आदत होती तो भूखा रहकर 'परान्न' पर टूट पड़ने के लिए विशेष रूप से तैयार हो जाता, पर दुःख है कि ब्राह्मण के घर जन्म लेकर भी मुझे न्योता जीमने का कभी अवसर नहीं मिला। विश्वास है, न्योता जीमने के लिए ही मुझे एक बा और धरातल पर पधारना पड़ेगा। ठीक १२॥ बजे लेफ़्टिनेन्ट कर्नल साहब ने मुझे संतजी के साथ आने की सूचना दी। संतजी से मैंने कह दिया, तब वे बोले—"अच्छा, इन्हें (श्रीमतीजी की ओर इशारा करके) बाज़ार में कुछ सामान ख़रीदना है। अपने भाई को इनके साथ भेज दो।"

पन्नालाल, श्रीमतीजी और एक बंगाली सज्जन चले गये। रिक्श पर तीनों रवाना हुए। यदि संतजी की जगह पर मैं होता तो 'मोटर' की खोज करता, पर सादगी इसी का नाम है। मौजी लोग कभी 'रोल्सरायस' पर सफ़र करते हैं तो कभी टूटी बैलगाड़ी पर! उनके लिए दोनों सवारियों में विशेष अन्तर नहीं है। मैंने महात्मा गांधी को 'साइकिल' पर चढ़ते देखा है! कितने आश्चर्य की बात है, बिहार-रत्न राजेन्द्र बाबू 'पटनिया-एक्का' पर जाते नज़र आते हैं!

जब श्रीमतीजी बाज़ार से लौटीं तब संतजी ने बंगाली महोदय से साग्रह पूछा—"निश्चय ही आपने दो-चार रुपये का फ़ायदा पहुँचाया होगा।" कुछ लज्जित से बंगाली महोदय बोले—"हें हें, जी नहीं— एक रुपया दूकानदार से कह-सुनकर छुड़वाया।"

संतजी ख़ूब ज़ोर से हँसकर बोले—"बस, इतना ही !"

मैं मन-ही-मन हँसा। यदि मेरी हँसी प्रकट हो जाती तो शायद संतजी उसे व्यंग्य की हँसी समझ बैठते। बड़ी कठिनता से मैंने अपनी उच्छृङ्खल हँसी दबाने में सफलता पाई।

अब हम लेफ़्टिनेन्ट कर्नल साहब की कोठी की ओर रवाना हुए। मैं भोजन का वर्णन नहीं करूंगा, क्योंकि मुझे भय है कि पाठक कहीं अपने राम को पेटू न मान बैठें। लेफ़्टिनेन्ट कर्नल साहब के यहाँ पहुँचते ही मैं मानो अकेला हो गया। संतजी को घेरकर सभी बैठ गये और तत्काल देश-विदेश की वार्ता आरम्भ हो गई।

ऐसी-ऐसी पार्टियों में फलाहारी को कभी भी शरीक होने का शौक़ नहीं करना चाहिए, इसका कटु अनुभव अनेक बार मुझे प्राप्त हुआ है। पर फिर भी निमन्त्रण मिलते ही ब्राह्मण-बुद्धि ज़ोर मारने लगती है।

एक बार गया में उड़ीसा के प्रीमियर माननीय विश्वनाथदास पधारे। उन्हें पार्टी दी गई। हम कई अभागे शाक-भोजी थे। बस, हमारी मेज़ अलग लगा दी गई और गाजर, टमाटर, गोभी, आलू खाकर किसी तरह पेट की भट्ठी को समझाना-बुझाना पड़ा। यही दशा संत साहब के साथ लेफ़्टिनेन्ट कर्नल के यहाँ भोजन करने में हुई। अपने राम पापड़, पपीता, ककड़ी, गाजर, सलजम खाकर ही सन्तोष कर गये जब कि हमारे सामने प्लेट-पर-प्लेट परोसे जा रहे थे और काँटे-छूरी की खनखनाहट से पूरा भोजन-गृह गूँज रहा था।

सूर्यास्त ! बनारस जानेवाली गाड़ी में संतजी का सैलून जोड़ दिया गया। हम स्टेशन पर इधर-उधर घूम रहे हैं। पत्रकारों, मित्रों और शहर के सम्भ्रांत व्यक्तियों से घिरे संत साहब खड़े हैं। संत जी अपने सैलून में घुसे, हम भी पीछे-पीछे चले। इसी समय एक सिंहली बौद्ध भी अपना कार्ड भेजकर आया। उसके पीले वस्त्र पर दिवंगत भानु

की सुनहरी किरणें पड़कर चमक उठीं—सैलून का भीतरी भाग भर के लिए पीले प्रकाश से भर गया। हँसते हुए संतजी ने उस का परिचय उपस्थित सज्जनों से कराया और मेरी ओर बारी आई उन्होंने कहा—"इनका नाम........है। आप एक उच्च शिि व्यक्ति हैं.......... इत्यादि।" मुझे कितना परिताप हुआ कि स साहब ने मुझे हिन्दी का लेखक नहीं तो एक तुच्छ सेवक भी नह समझा। एक कहानी मुझे याद आती है। उर्दू के एक कवि मीर साहब थे। भारी अक्खड़, पूरे ज़िद्दी! किसी ने आपसे पूछा—'हज़रत उर्दू में इस समय कितने कवि हैं। आपने फ़र्माया—"तीन!" पूछा—"कौन कौन?" उत्तर मिला—'एक मैं और दो और।"

फिर प्रश्न हुआ—"अमुक हज़रत भी तो शायर हैं—" तो मीर झल्लाकर बोले—"अच्छा, आधा उनका नम्बर भी रहा। साढ़े तीन।"

मीर साहब ने तो एक अभागे को अपने मुक़ाबिले में आधा नम्बर भी दिया, पर संतजी ने तो इस ग़रीब को नम्बर देना स्वीकार नहीं किया! मैं नहीं कह सकता यह हिन्दी-लेखक होने का अपराध है या सचमुच मुझ में लेखक कहलाने की योग्यता का ही अभाव है। कभी न कभी इसका फ़ैसला होकर ही रहेगा। वे अपने साथ मेरे लिखे हुए कई संस्मरण ले गये—मैं धन्य-धन्य हो गया!

× × ×

संत जी चले गये। उन्होंने मुझसे कहा था कि वे दो मास 'गया' में ही ख़ुद रहकर एक ग्रन्थ लिखना चाहते हैं। उन्होंने भगवान् बुद्ध की कोई जीवनी लिखी है, जिसके सम्बन्ध में उनका कहना है कि किसी भी पुरानी जीवनी-पुस्तक से बिना सहायता लिये ही प्राप्त साधनों

का सरे नौ से अध्ययन करके पुस्तक लिखी गई है। एक बात जो उन्होंने कही, वह बहुत ही मज़ेदार थी। उनके विचार से मागधी भाषा सिंहली की माँ है। मैं नहीं कह सकता वे किस आधार पर ऐसा कह रहे हैं—किसी भाषा-तत्त्वविद् को इस ओर ध्यान देना चाहिए। मगध-वासी होने के कारण मैं आनन्द-गद्गद् होकर ही रह गया !

संत साहब का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक है और वे सचमुच कठोर परिश्रमी तथा महान पुरुषों में से एक हैं। वे भले ही मुझे लेखक न स्वीकार करें, पर मैं तो उन्हें दिग्विजयी लेखक कहकर अपनी कृतज्ञताञ्जलि अर्पण करता हूँ। वे संसार के श्रेष्ठ लेखकों में से एक हैं।

पूरब ने पश्चिम को यह 'संत निहालसिंह' दिया है—निश्चय ही भारत को अपने इस लाल पर गुमान है। इन्हीं माई के लालों ने आज संसार के सामने भारत के गौरव का ध्वजोत्तोलन किया है। संसार के सामने हम गुलाम रहते हुए भी जो सिर ऊँचा करके खड़े होने का साहस करते हैं वह इन्हीं बहादुर भारतीय सिपाहियों के बल पर ! निश्चय ही योरप को हमारा ऋणी होना चाहिए।

विद्या-महोदधि के० पी० जायसवाल

बहुत दिनों की बात है; पर विस्मृति की धूलि आज तक उस पर नहीं जम सकी है। सुकोमल स्मृति की उँगलियों से झाड़-पोंछ आज तक होती रही है। मैंने चेष्टा भी की, पर अपनी उस सुनहली याद को नहीं ढग सका। बहुत दिनों की बात है। माघ का महीना था। वसंत की अवाई हो चुकी थी। हवा में आलस्य भर गया था और पञ्छियों के कलरव में उदासी छा गई थी। दुपहरी की धूप में कवित्व की छटा छलकने लग गयी थी। आज भी मुझे याद है। माघ का महीना था। माघ तो नियमानुसार प्रत्येक वर्ष आता है पर जिस माघ मास की स्मृति आज मुझे रुला जाती है वह माघ था वृन्दावन के करील-कुञ्जों का माघ। वृन्दावन के माघ में और कलकत्ते के माघ में उतना ही अन्तर है जितना दूध और कांजी में है। बहुत दिनों की बात है, वह भी व्रज के माघ की। उस समय मैं एक भावुक कलाकार था और आज एक साधारण गृह-कूप का मण्डूकमात्र कितना घोर पार्थक्य है! कितनी विषमता है!!

महाभारतवाले अच्युत का नहीं, बृजवाले कन्हैया का लीला-स्थल व्रज आज भी कवियों की मानसिक आराधना का केन्द्र है, भावुकों की सुकोमल भावनाओं का आधार स्थल है। उसी वृन्दावन से मुझे निमन्त्रण मिला। वहाँ सम्मेलन का सालाना उत्सव होने-वाला था। हरिश्चन्द्र-सखा महापण्डित किशोरीलालजी गोस्वामी

विद्यामहोदधि डॉ॰ के॰ पी॰ जायसवाल

के पवित्र दर्शनों का मोह और व्रजभूमि की कवित्वमयी झाँकी का लोभ मेरे जैसे बैठे-ठाले के लिए संवरण कर लेना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य कहा जा सकता है। ठीक समय पर घर से निकला। मेटू स्टेशन के स्टेशनमास्टर ने तार भेजकर मथुरा के स्टेशन-मास्टर को मेरे लिए विशेष प्रबन्ध कर देने की सूचना दे दी थी। मैं ठीक दो बजे रात को मथुरा पहुँचा। समस्त दिन स्नान नहीं किया था। सर्दी भी खासी पड़ रही थी। रेफ्रेशमेन्ट-रूम में मेरे लिए पर्याप्त आराम का सामान जुटा दिया गया था। स्वयम् स्टेशन-मास्टर महोदय मुझ से मेरी गाड़ी ही पर मिले। सचमुच वे कितने सज्जन थे! सारी रात मेरे लिये परेशान रहे।

बन्दरों से बचने के लिए मूल्यवान उपदेश देकर स्टेशन मास्टर साहब मुझे वृन्दावन की गाड़ी पर बैठा आये और मेरे "न" करते रहने पर भी बहुत सी नारंगियों और केलों के साथ एक बास्केट में अंगूर भी मेरी गाड़ी पर रख आये। इसके बाद? सुहावनी व्रज-भूमि पर गाड़ी दौड़ने लगी। करील-कुञ्जों के बीच से सरसराती हुई गाड़ी आगे बढ़ी और वृन्दावन के नन्हें से स्टेशन पर पहुँच गयी। वहां मित्रों के दल से हाथा-पाई और प्रगाढ़ आलिंगन से निबटकर आगे बढ़ा। इतने में देखता क्या हूँ कि केलों के गुच्छे पर रामदास की चढ़ाई हो गयी है। वहीं था स्वागत-समिति वालों का प्रथम स्वागत। जिस स्थान पर हम ठहराये गये वह था स्टेशन के निकट। पंडों के दल को मैंने समझा दिया कि "मैं भी एक स्थान का पंडा हूँ और हज्जाम हज्जाम से हजामत की मजदूरी नहीं लेता।" पर वे मेरी इस उपदेश-रत्नावली से तनिक भी संतुष्ट नहीं हुए। मैंने कहा—दो-चार मन्दिरों के दर्शन करा दो, तो पैसे दूँ।"

कपड़े बदलकर मैं तत्काल पंडाजी के साथ ही चल

बतलाना शुरू किया। यह देखिये विश्व-विख्यात रंग स्वामी का मंदिर है। करोड़ सालाना आय है। यह सात खंड ऊँचा था। दिल्ली के क़िले का चिराग़ यहाँ से स्पष्ट दिखलाई पड़ता था। इसलिये औरंगज़ेब ने इसे तुड़वाकर छोटा बना दिया। यह देखिये, शाहजी का मन्दिर। संगमरमर की कारीगरी का नमूना देखना हो तो भीतर चलिए।"

मैं अनमना-सा आगे बढ़ा। वृन्दावन की एक-एक रज-कणि में माखन-चोर की स्मृति आज भी छिपी हुई है। जिस पथ पर चल रहा था, उसे यद्यपि धर्म-मदमत्तों ने रक्त से सींचा होगा, महा-पराक्रमी मुग़ल पठानों के उद्दण्ड सिपाहियों ने रौंदा होगा, पर उसके दर्शन मात्र से हृदय में जो गुदगुदी उत्पन्न होती है, भावों में जो कम-नीयता उत्पन्न हो जाती है, उसे आज तक किसी ने नहीं रौंदा, किसी ने तितिर बितिर नहीं किया। मैंने पंडा जी से कहा—"मैं प्रेम-महावि-लय मन्दिर की झाँकी करना चाहता हूँ।" वे मेरी बात सुनकर च पड़े।

प्रेम-महाविद्यालय यमुना के तट पर स्थित है। "सर्व्वहारा" राजा महेन्द्रप्रताप की यह मूर्तिमान् कामना है। जिस समय मैं विद्या-लय में इधर-उधर घूम रहा था और उसके एक प्रोफ़ेसर मुझे दिखला रहे थे, उसी समय मैंने देखा कि दो विदेशी कैमरा लिये प्रधान फाटक से भीतर घुस रहे हैं। दोनों जर्मन यात्री थे। वे मेरी खादी की टोपी देखकर आकर्षित हुए। उन सहृदय यात्रियों ने मुझे बतलाया कि वे किसी जर्मन विश्व-विद्यालय के रिसर्च स्कालर हैं और अजंता आदि देखने भारत आये हैं। मैंने पूछा—"गया जाने का भी विचार है? बुद्ध-गया देख लेना आवश्यक है।" उन्होंने अपना पूरा प्रोग्राम दिखला दिया। मैंने फिर प्रश्न किया—"पटना किस उद्देश्य से जाना चाहते हैं?" दोनों ने एक स्वर से कहा—"पंडित शर्मा और जेसबोल से मिलकर पुरा-

तत्त्व सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने।"

पं० शर्मा के माने पं० रामावतार शर्मा और जेसवोल माने महामति के० पी० जायसवाल महोदय। मैंने पूछा—"ये नाम आपको कहाँ मिले?" यात्रियों ने कहा—"हमारे देश का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति इन महान् भारतीयों का सच्चा उपासक है।" मेरे आश्चर्य्य की सीमा न रही। जायसवाल महोदय एक युग से मारे प्रान्त की शोभा बढ़ा रहे हैं। पर मैं स्वयम् नहीं जानता कि ये इतन महान् और विख्यात हैं। आज मैं अनुभव करता हूँ कि हम अपने आदरणीय पुरुषों का आदर करना नहीं जानते। जिन महामति जायसवाल ने विद्या-मद-मत्त जर्मनी को अपने सामने झुका दिया है, वे हमसे उपेक्षित ही रहे। कई बार पटना गया, पर एक बार भी, दूर से ही सही, उनके दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त किया।

बात पुरानी हो गयी और मैं भी इस घटना को भूल ही गया। दिन पर दिन व्यतीत हो गये और वर्ष पर वर्ष। मैं भी कविता, कार्टून तथा कहानी के कीचड़ में लोटता-छटपटाता रह गया। सुधा, माधुरी आदि की दया प्राप्त करने के निमित्त नाक रगड़ता रहा। पर एक बार भी मेरे हृदय में जायसवाल की बात याद नहीं आयी।

पिछले वर्ष जब राहुल बाबा ने मि० पी० सी० चौधरी के सम्मुख जायसवाल जी की चर्चा चलायी, तब मेरी पुरानी भक्ति पूर्ण वेग से छलक पड़ी। मि० चौधरी ने कई बार अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जायसवाल महोदय का शुभ नाम लिया। "हिन्दूपालिटी" आदि पुस्तकों की सहायता से मैं जायसवाल महोदय की मानसिक पूजा कर लिया करता था, पर साक्षात्कार करने की लालसा को सदा दबाता ही रहा। जब पटना गया, यह सोचकर जायसवाल महोदय की सेवा में उपस्थित होने से जी चुरा कर भाग निकला कि वे महान् हैं। मैं किस गुण के बल पर

उस महान् पंडित का आस्तीना चूमने की हिम्मत करूं। हिन्दी का
एक अत्यन्त साधारण लेखक होना ही जायसवाल जी जैसे विश्व-
विख्यात पंडित के सम्मुख खड़ा होने का पर्य्याप्त कारण नहीं माना ज
सकता। लाचार अपने भाग्य को कोसता हुआ चुप रहा। पर परमात्म
को कुछ दूसरी ही लीला करना मंज़ूर था।

यही पिछले ३० सितम्बर की बात है। आपको मालूम होना
चाहिए कि मैं 'गया जी' का पण्डा हूँ। एक हिन्दी लेखक होने के
साथ ही साथ विधाता ने यह पद भी मुझ अभागे को सौंपा है। पितर-
पख में हमारे यहाँ बड़ी चहल-पहल रहती है। बड़े-बड़े गर्वोन्नत मस्तक
हमारे चरणों पर झुकते हैं और पितरों के स्वर्ग-नरक का एक मात्र
निर्णय हमारे "हाँ और न" पर निर्भर करता है। पितरपख वाला देवो-
पम सम्मान फिर वर्ष भर दुर्लभ हो जाता है। अब समझा आपने
वियोगी जी कितने महत्त्वशाली-पुरुष हैं! हाँ, तो इसी पितरपख की
बात है। उस दिन निश्चय ही ३० सितम्बर था और थी दुपहरी।
श्रद्धालु यात्रियों के दल के पितरों के स्वर्ग-नरक की व्यवस्था मैं
कर रहा था। हाथ बाँधे अनेक धनी, पण्डित तथा योद्धा बैठे थे। लेन-
देन का बाज़ार गर्म था। दीवानजी की कलम चलती थी और मैं
अपनी समस्त शक्ति, समस्त कला, लगाकर अधिकाधिक अर्थला
की चेष्टा कर रहा था। मेरा समस्त साहित्य-ज्ञान, समस्त दर्शनज्ञान,
समस्त कलाज्ञान, एक मात्र नक़द नारायण पर केन्द्रित हो गया था।
इसी समय मेरे एक नौकर ने आकर सूचना दी कि, एक सज्जन, जो
ाहब जैसे कपड़े पहने हुए हैं, आपसे मिलना चाहते हैं—और वे पिंड-
ान भी करना चाहते हैं!

पितरपख के दिनों में पिण्डदान की सनक हम पर सवार हो जाती
। यदि स्वयम् विधाता वर-प्रदान के निमित्त भी प्रकट हों, तो हम

हिन्दी का एक अख्यात सेवक मात्र ! क्या मेरी कुटिया पर इस महान् मनस्वी का पधारना कोई साधारण घटना है ? जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि ये सज्जन जायसवाल हैं, तब आनन्द और आश्चर्य के मारे मैं अधमरा सा हो गया। इस महान् अतिथि की पूजा किस विधि से की जाय, यह तत्व मेरी समझ में नहीं आया। जायसवालजी आये और चले भी गये; पर अन्त तक मैं इस प्रश्न को हल नहीं कर सका।

कोई एक घण्टे तक जायसवाल महोदय बैठे। राहुल जी का एक पत्र उसी दिन आया था। आपने जायसवाल जी को भी पत्र लिखा था। सुदूर तिब्बत से आप पत्र लिख रहे थे। आपने इस बार गया आने पर मेरे यहां ठहरने की इच्छा प्रकट की थी। "घी के चुपड़े और दो-दो" वाली कहावत चरितार्थ होने वाली थी। जायसवाल जी ने भी आपकी चर्चा की। एक घंटा तक ठहर कर आप चले गये। साथ ही वचन देते गये कि वे शीघ्र ही पुनः गया आने वाले हैं और यहां एक सप्ताह ठहरने की संभावना है। इस बार वे आने के पूर्व ही मुझे सूचना देंगे। अहो भाग्य !

कोई दो सप्ताह बाद की बात है। एक दिन ब्लू पेन्सिल की लिखी हुई एक चिट्ठी मुझे मिली। उसी दिन विजयादशमी का शुभ उत्सव था। पत्र-लेखक जायसवाल जी थे और आपने रेल पर से मुझे स्मरण किया था। पत्र में एक दोहा था। दोहा इस प्रकार है—

आर्य धर्म जिस नाम में, बसता है सब काल।
उस श्रीराम जुहार युत, मिलता जायसवाल॥

जायसवाल महोदय एक कवि के रूप में मेरे सम्मुख आज उपस्थित
इस धुरन्धर पंडित के संस्मरण लिखना मेरे जैसे अल्पधी का काम
है। भारत के इस श्रेष्ठ महापुरुष ने न केवल भारतीय पंडितों में

पूर्ण ही अपना गौरव स्थान बनाया है, बल्कि, संसार के सभी मेधावियों ने इसका लोहा माना है। हिन्दू भारत के जायसवाल जी एक माने हुए आचार्य हैं। हिन्दू भारत पर कलम उठाते समय प्रायः सभी विचारकों ने जायसवाल जी को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है।

(२)

स्वर्गीय डाक्टर के० पी० जायसवाल के विषय में कुछ और लिखने के पूर्व हम अपनी डायरी का एक पृष्ठ यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं। पाठक हमें क्षमा करेंगे, ऐसा विश्वास है।

"२१—७—३७

"पटना पहुँचा। घटायें बरस कर खुल चुकी हैं। जेल से छूटे हुए अपने प्रिय-बन्धु की तरह धूप को प्यार भरी नज़रों से देख रहा हूँ। प्रकाश—हम केवल प्रकाश चाहते हैं। अनन्त विश्व का प्रत्येक छोटा से छोटा पहलू भी हमारी आँखों से अगोचर न रहे, यही कामना है और प्रकाश के प्रति हमारे मन के दौड़ने का यही रहस्य है। कुछ भी हो, पर इस समय पटना पहुँच गया।

"जायसवाल जी बीमार हैं, शायद खाट से लग गये हैं, जीवन और मृत्यु के संधिस्थल से गुज़र रहे हैं। मनुष्य अकारण जीवित रहना चाहता है। समय उसे दूसरों के लिए, जो पीछे-पीछे आ रहे हैं, स्थान ख़ाली कर देने की आज्ञा देता है। बस, यही तनातनी का घर है। हम अपने स्थान से चिपटे रहना चाहते हैं और समय का अदृश्य हाथ हमें पकड़ कर वहाँ से दूर हटाना चाहता है ताकि दूसरों को, जो स्थानाभाव से पीछे खड़े हैं, आगे बढ़ कर विधाता के इस प्रपंच का नाटक देखने का अवसर प्राप्त हो। जीवधारियों का विरोध और विधाता का विधान इन दोनों में कौन अधिक सकारण है, यह तो बतलाना कठिन है, पर मैं देखता हूँ कि मन जायसवाल जी को

कोठी की ओर जाने के लिए मचल रहा है। अच्छा, संध्या समय पूज्य राजेन्द्र बाबू के दर्शन करूँगा। मन, तेरा ही आज्ञा पालन करता हूँ ·..........।

"मैंने ठीक उसी तरह धड़कते हुए हृदय से कोठी में प्रवेश किया, जैसे कोई चोरी करने की नीयत से घुसे। सुन्दर बाग़ की हालत जंगल और झाड़ियों की-सी हो गई थी। 'सदाबहार' की टट्टियाँ बिलकुल बढ़ कर झंखाड़ बन चुकी थीं। बिना आवश्यक देख-भाल के कोठी की सुन्दरता एक विधवा के रूप में परिणत हो गई थी। दूर से देखते ही मन को यह विश्वास हो जाता था कि इस कोठी में पिछली रात कोई दर्दनाक दुर्घटना हो चुकी है, जिसकी वजह से कोठी का वातावरण विषादमय और भारी हो गया है। बाग़ की क्यारियाँ घास से भर गई हैं और नाना जाति के बरसाती पौधे विलायती और देशी फूलों के गमलों पर दख़ल जमा कर साम्यवाद की घोषणा कर रहे हैं। ऐसी हालत हो गई है उस नज़र-बाग़ की जिसकी सुन्दरत अपनी एक ही कोमल मुस्कान से दूर करके उनमें नई भावना का संचार कर देती थी। समय की गति!

"कोठी निर्जन थी। एक कौवा फ़ौव्वारे पर बैठा "काँव-काँव" कर रहा था और कुछ गौरैये बरसाती में फुदक फुदक कर कीड़े पकड़ रहे थे। सीढ़ियों पर धूल जमी हुई थी और ऐसा जान पड़ता था कि संगमर्मर की सीढ़ियों को बहुत दिनों से मानव-चरण-स्पर्श का सौभाग नहीं प्रात हुआ है। पत्थर पर घास नहीं उगती, वर्ना ये सीढ़ियाँ भी री-भरी दूब से भर जातीं।

"धीरे धीरे मैं वहाँ गया जहाँ बैठ कर जायसवाल जी मिट्टी में ते हुए भारत के लुप्तगौरव को पुनः प्रकाश में लाने का अमर प्रयत्न

किया करते थे। दावात और मेज़ धूल से भर गई थी और टेलीफ़ोन के रिसीवर पर मकड़ी ने जाले तान रक्खे थे। सर्वत्र निर्जनता थी और वातावरण इतना भारी था कि एक क्षण ठहरने के लिए भी मन को बलपूर्वक राज़ी करना पड़ता था, बैठने पर आलस्य के मारे औंघाई आती थी।

"मैं हताश-सा थका-सा एक कुर्सी पर बैठ गया और फिर पास वाले कमरे में किसी के चलने-फिरने की आहट पाकर उसी ओर देखने लगा। कुछ क्षणों के बाद मैंने श्रीमती जायसवाल को, जो मूर्त्तिमती करुणा-सी दिखलाई पड़ती थीं, पर्दा हटा कर झाँकते देखा। मैंने देखा, उनके खिन्न और क्लान्त शरीर पर एक मैली-सी साड़ी है, केश बिखरे हुए और रुक्ष हैं, आँखों के नीचे गहरी काली लकीरें दिखलाई पड़ती हैं तथा पलकें भींगी और सूजी हुई-सी हैं। मैंने उठ कर प्रणाम किया। कैसा सकरुण दृश्य था!

"कई कमरों को पार करके मैं वहां पहुँचा जहाँ जायसवाल जी अचेत या अर्धचेतनावस्था में पड़े थे। कमरा बड़ा और सजा हुआ था और उसके बड़े बड़े दरवाज़ों से सूर्य का कोमल प्रकाश भीतर आ रहा था। मेज़ पर नाना आकार-प्रकार की शीशियां अस्त-व्यस्त पड़ी थीं—तरह तरह की दवाइयों की गन्ध कमरे में भरी हुई थी और वहां की हवा ऊबा डालनेवाली तथा सांस लेने के उपर्युक्त नहीं थी। बाईं करवट लेटे हुए जायसवाल जी के पीले तथा कुछ कुछ सूजे हुए मुख पर दिन का हलका पीला-सा प्रकाश पड़ता था—उनकी आंखें अधमुँदी-सी थीं तथा सांस ज़ोर ज़ोर से चल रही थी! मैं अचकचा-सा खड़ा-खड़ा यह दृश्य देखने लगा और सोचने लगा संसार की असारता की बात जो ऐसे अवसर पर आम तौर से सभी सोचा करते हैं।"

बस, डायरी का इतना ही अंश काफ़ी होगा।

तीन मास 'कारबंकल' नामक ज़हरीले फोड़े से पीड़ित रहकर जाय-
सवाल जी ४।८।३७ को धराधाम त्यागकर सदा के लिये विदा
गये। वे ५ पुत्र और तीन पुत्रियां छोड़ गये हैं।

पहिले हम यहां जायसवाल जी का एक शब्द-चित्र उपस्थित करन
चाहते हैं।

जायसवाल जी ५॥ फुट लम्बे और सांवले थे। व्यायामशील होने
के कारण उनका स्वास्थ्य उनके विश्व-विख्यात दिमाग़ की ही तरह
अभिनन्दनीय था। चौड़े कन्धे, पुष्ट भुजायें और पहलवानों की तरह
उभरी हुई मांसल छाती थी। नित्य नियमित रूप से व्यायाम करने
का आपको व्यसन था और सूर्योदय के पूर्व वे ख़ूब व्यायाम करके
गंगा-स्नान करने जाते थे। उनकी आंखों की बनावट विशेष प्रकार
की थी। उनसे गम्भीरता और तन्मयता प्रकट होती थी। उनको
हँसना और हँसाना भी ख़ूब आता था। फ़बतियों और लतीफ़ों का
क्या कहना है! हँसी-मज़ाक को उनकी ख़ास विशेषता कहना उ
ही होगा। वे सीधे तनकर बैठते थे और कुर्सी की पीठ के सहारे बैठ
बुरा समझते थे—फ़ौजी सिपाही की तरह तनकर चलना और बराब
अपने भीतर नवयौवन का अनुभव करना उनकी ज़िन्दादिली का
प्रमाण है। ऐसे थे संसार-विख्यात डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल,
जिन्हें स्वर्गीय कहते हमारा हृदय शतधा विभक्त हो जाता है।

क्या जायसवाल जी को महामरण अपने सर्वग्रासी जबड़ों से
कुचल सकता है? कदापि नहीं! यदि जायसवाल जी मर्त्य थे तो फिर
अमर कौन होगा?

(३)

प्रत्येक मनुष्य चाहे वह प्रख्यात हो या अख्यात, महान् हो या
तित, इसी दिन और रात के २४ घंटों के किसी क्षण में जन्म ग्रहण

करता है और मरता है। जिस समय और जिस क्षण महात्मा गान्धी का जन्म हुआ था, इस अनन्त विश्व में उसी समय और उसी क्षण न जाने कितनों ने जन्म ग्रहण किया होगा, पर महात्मा जी की जीवन-धारा-सी किसकी जीवन-धारा गंगा की पवित्र धारा की तरह अमर हुई, पतितोद्धारिणी हुई, चिर-शान्तिदायिनी हुई ? हिमालय से निकलनेवाली असंख्य जलधाराओं में से गंगा को जो गौरव प्राप्त हुआ, जो सम्मान मिला, जैसी श्रद्धांजलियां मिलीं, वैसी दूसरी—गंगा की सहोदरा—नदियों को कब नसीब हुईं ? मनुष्य का भाग्य उसकी जन्म-घड़ी का मुँह नहीं जोहता; यह मानी हुई बात है।

जो हो, पर हम परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ना नहीं चाहते, अतएव हमें यह लिखना ही पड़ेगा कि डाक्टर जायसवाल का जन्म किस सन् में कहां हुआ, चाहे इन सन्-संवतों से जायसवाल जी की महत्ता पर प्रकाश पड़े या न पड़े। हां, तो डाक्टर जायसवाल का जन्म १८७१ ईसवी में संयुक्तप्रान्त के मिर्ज़ापुर के एक सम्पन्न व्यापारी के घर में हुआ था। हमें जायसवाल जी की मृत्यु के बाद उनकी फ़ाइलों में कई पत्र प्राप्त हुये हैं जो राहुल जी के पास सुरक्षित हैं। इन पत्रों में एक विचित्र पत्र है, जिसके लेखक कोई सीताराम नाम के सज्जन हैं, जो जायसवाल जी के पिता के अभिन्न मित्र और कटु-सत्यवादी हैं। दयालबाग़ में शायद आज भी वे रहते हैं तथा परमार्थ पथ के पथिक हैं। उस पत्र से यह पता चलता है कि सीताराम जी ने जायसवाल जी के स्वर्गीय पिता को व्यापार करने के लिए ५,०००) क़र्ज़ दिया था। इसी ५,०००) से जायसवाल जी के पिता जी ने अपने व्यापार का ऐसा प्रसार किया कि देखते-देखते लक्षपति बन बैठे। भाग्य ने सहारा दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जायसवाल जी के पिता एक पक्के व्यापारी थे और जो कुछ सम्पत्ति आज 'महावीर प्रसाद-

काशी प्रसाद' फ़र्म की है वह पुरानी नहीं, बल्कि जायसवाल जी
के पिता की कमाई हुई है। उक्त महाशय सीताराम ने अपने कई
में जायसवाल जी की साहबी शान की बड़ी कड़ी निन्दा की है
बैरिस्टरी को लात मारकर उन्हें व्यापार की ओर ध्यान देने का उ
देश किया है। सीताराम जी का विश्वास है कि साहबी शान उड़ाऊ
होती है और इस तरीके से जीवनयापन करनेवाला सदा आर्थिक चहले
में फँसा रहता है। ख़ैर, अभी तो हमें जायसवाल जी के बाल्य-जीवन
पर ही दृष्टिपात करना है।

हमारे प्रश्न करने पर स्वयम् जायसवाल जी ने एक बार कहा था—
'मैं लड़कपन में बहुत ही नटखट था। मिर्ज़ापुर का वातावरण कुछ
ऐसा है कि वहां अक्खड़पन आपसे आप आ जाता है। भंग छानना
और कन्धे पर लम्बी लाठी लेकर ऐंठते हुए चलना साधारण-सी बात
है। जीवन के आरम्भिक दिनों में जिसे क़ानूनी भाषा में 'नाबालिग़'
कहते हैं, मैं भी काफ़ी ऊधमी था। यद्यपि पढ़ने-लिखने में अपने सह-
पाठियों से कम नहीं था, तथापि स्कूल में कतई मन नहीं लगता था।
खुले मैदान में और पहाड़ियों पर मेरा काफ़ी मनोरंजन होता था। नीले
आकाश के नीचे बैठना मैं पसन्द करता था और प्रकाशोद्भासित मैदान
में अकेले ख़ूब टहलता था।"

इस प्रकार जायसवाल जी का लड़कपन आरम्भ होता है। सुना
जाता है और कुछ कुछ व्यक्तिगत अनुभव अपने राम को भी है कि
अमीरों के बच्चे, कँगारू के बच्चे की तरह, माता के जठर से भूमिष्ठ
होकर भी एक प्रकार से कुछ दिनों तक माता के स्नेह-कोख में ही
रहते हैं। जायसवाल जी भी एक धनी के पुत्र थे और उन्हें भी पिता का
प्रेम और माता का लाड़-प्यार असाधारण रूप से प्राप्त था। नौकरों
और दरबारी-महापुरुषों से सदा घिरे रहने के कारण वे काफ़ी ज़िद्दी

हो गये थे तथा प्रकृति में कुछ उद्धतपन आ गया था। यद्यपि विलायत-यात्रा से पुराने ढङ्ग की अमीरी शान मिट गई थी, तो भी अक्खड़पन बना ही रहा। हाँ, उसमें प्रकार-भेद आ गया था जैसा कि स्वाभाविक भी कहा जा सकता है।

जायसवाल जी एक अक्खड़ मनुष्य थे। उनसे जिसे मिलने का—बहुत अधिक निकटता स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह हमारे इस कथन का समर्थन अवश्य करेगा। इसी अक्खड़ता ने उन्हें न तो 'जनता का आदमी' बनने दिया और न 'सरकारी कृपा-पात्र'। उनका अपनापन सबसे अलग और निराला बना रहा।

विलायत-यात्रा की छाप उनके नित्य के जीवन पर उतनी नहीं पड़ी, यह एक मानी हुई बात है, पर समाज में जायसवाल जी 'साहब' के रूप में रहे और घर के भीतर 'बाबू काशीप्रसाद' के रूप में। इस तरह उनका जीवन दो धाराओं में सदा प्रवाहित होता रहा। आक्सफ़ोर्ड के 'जीसस-कालेज' में उन्होंने एम० ए० पास किया। चीनी-भाषा में अनुसंधान करने के लिये उनको 'डेवीज़-स्कालर-शिप' मिला तथा भारतीय इतिहास के तमिस्र युग के रिसर्च स्कालर भी रहे। उनके लेखों और ग्रन्थों का इतना आदर हुआ कि बीसवीं सदी के किसी भी इतिहासज्ञ को—ख़ास कर भारतीय इतिहासज्ञ को—नहीं प्राप्त हुआ। 'हिन्दू-पोलिटी' का अनुवाद तो प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में हो चुका है और अनगिनत विश्वविद्यालयों में यह पुस्तक पढ़ाई भी जाती है। वे अपने विषय के अकेले विद्वान् थे, यह तो निर्विवाद सिद्ध है। कालेज में अध्ययन करते समय ही उन्होंने खोज-विषयक अपने ज्ञान का ऐसा परिचय दिया कि बड़े बड़े पुरातत्त्वज्ञ, अनुभवी अध्यापक उनका लोहा मान गये। अँगरेज़ी की योग्यता के साथ उनका संस्कृत-ज्ञान इतना कैसे बढ़ गया था, यह बतलाना कठिन है, पर महामहोपाध्याय

साहित्याचार्य पंडित रामावतार शर्मा एम० ए० जिन्हें उत्साहित होकर भावुकता के प्रवाह में पड़कर—किसी की तारीफ़ करते शायद ही किस ने देखा-सुना होगा, उनके कट्टर प्रशंसक थे। संस्कृत-पांडित्य की चर्चा चलते ही वे डाक्टर जायसवाल का नाम बहुत ही स्नेह और आदर से लिया करते थे। शायद शर्माजी भारत में तीन-चार ही संस्कृतज्ञ मानते थे, जिनमें जायसवाल साहब का नम्बर दूसरा था। एक बार हमारे पूछने पर शर्मा जी ने कहा—"ग़ैर ब्राह्मणों में जायसवाल जी सबसे बड़े संस्कृतज्ञ तो हैं ही, पर ब्राह्मण पंडितों में भी उनकी कोटि का धुरंधर विद्वान् मिलना कठिन है।

हम स्वयम् संस्कृत के अच्छे जानकार नहीं हैं, इसी लिए स्वर्गीय शर्माजी की सम्मति को उद्धृत करके ही संतोष-लाभ करते हैं। हाँ, इतना तो हम भी अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर कह सकते हैं कि जायसवाल जी को संस्कृत के अनगिनत ग्रन्थ मुखस्थ थे। ऐसे कई ग्रन्थ भी मुखस्थ थे जिनका नाम तक हम लोगों ने नहीं सुना। न्यायशास्त्र पर उनका अच्छा अधिकार था तथा संस्कृत के महाकाव्यों के तो पारंगत जानकार थे। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था तथा वेदों और वेदांगों पर इतना अधिकार था कि बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् तक उनके मत का विरोध करने की हिम्मत नहीं करते थे। 'हिन्दू-पोलिटी' नामक अपने महान् ग्रन्थ में उन्होंने अपने संस्कृत-ज्ञान का जैसा महिमामय परिचय दिया है उसकी तुलना में दूसरी नज़ीर पेश करने का साहस हममें नहीं है।

मिडिल-टेम्पल से बैरिस्टरी पास करके डाक्टर जायसवाल स्वदेश ौटे। विलायत में अध्ययन करते समय उन्होंने खोज-संबंधी कई से ज़ोरदार लेख लिखे थे कि बड़े-बड़े इतिहासज्ञ विद्वानों के दाँत ट्टे हो गये थे और विद्यार्थी जायसवाल को वहाँ के अनेक लब्ध-

प्रतिष्ठ इतिहासज्ञों ने बुलाकर अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की की थी। डाक्टर सिलव्याँ लेवी जैसे प्रकाण्ड संस्कृतज्ञ पंडित तक ने उनको उनके लेख पढ़ कर पत्र लिख कर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी और उन्हें फ्रांस आने का स्नेहपूर्ण निमन्त्रण दिया था। उस समय जायसवाल जी महज़ २२। २४ साल के एक विद्यार्थी मात्र थे और डाक्टर सिलव्याँ लेवी ने विश्व-विख्यात होने का महान् गौरव प्राप्त कर लिया था। ऐसे थे डाक्टर जायसवाल अपने विद्यार्थी-जीवन में ही।

(४)

भारत ने डाक्टर जायसवाल को एक बैरिस्टर के रूप में तथा विद्वानों ने विश्व-विश्रुत पुरातत्त्वज्ञ के रूप में प्राप्त किया, पर जायसवाल जी केवल क़ानूनदाँ और पुरातत्त्ववेत्ता ही नहीं, वरन् एक मनुष्य भी थे। मनुष्य की हैसियत से, एक सामाजिक जीव की हैसियत से, जायसवाल जी के किये गये उन दूसरे कार्यों का भी विचार करने का हक़ हमें है जिन्हें हम उचित समझते हैं।

स्वर्गीय पंडित रामावतार जी एक भयानक नास्तिक माने जाते थे। डाक्टर जायसवाल उन्हें चार्वाक की कोटि के नास्तिक और उनके सिद्धान्तों को स्वयम्—देखाऊ तरीक़े पर—मानते भी थे। बहस छिड़ने पर वे ईश्वर के अस्तित्व को समाप्त कर देने के लिए अपने प्रकांड पांडित्य का सारा बल बहुत ही निर्दयता पूर्वक लगा देते थे तथा बहुत ही निष्ठुर भाव से ईश्वरता पर प्रहार करते थे। पंडित-समाज में और ख़ास तौर पर अपनी मित्र मंडली में जायसवाल जी एक घोर नास्तिक के रूप में मुद्दत से विख्यात थे।

ऐसे अवसर अनेक बार आये जब हमने उन्हें धर्म और ईश्वर का भयानक विरोध करते सुना है। धीरे धीरे जब हम उनके अधिक निकट

आ गये तब हमने बहुत ही आश्चर्य के साथ यह अनुभव किय
वे नास्तिक नहीं, पूरे आस्तिक हैं। उनका नास्तिकवाद केवल बहस
विषय था। वे प्रत्येक एकादशी को फलाहार करते थे, श्रीकृष्णजन
अष्टमी आदि व्रत बाक़ायदा रखते थे। एक बार श्रीकृष्णजन्माष्ट
को जब हम उनकी सेवा में पहुँचे, उन्होंने कहा—"आज मैं तो फल
हार करूंगा।" मैंने पूछा—"क्यों?" कहने लगे "बेटा, भगवान
कृष्ण पर मेरी अगाध श्रद्धा है। वे ईश्वरावतार और योगीश्वर थे।
एक बार मैं बुरी तरह बीमार पड़ा। जीने की उम्मीद नहीं थी।
डाक्टरों ने बहुत ज़ोर मारा, पर रोग तूफ़ान की तरह बढ़ता ही गया
और घर भर का धैर्य सूखे पत्तों की तरह ग़ायब हो गया।" वे रुके
और अत्यन्त गम्भीर होकर छत की ओर देखने लगे। हम अपने हृदय
की बेकली को दबाये चुपचाप बैठे रहे। कुछ क्षण ठहर कर उन्होंने
एक ठण्डी साँस ली और फिर कहना आरम्भ किया—"हमारे पास
भगवान् कृष्ण की एक नन्हीं-सी तसवीर थी—सोने के तावीज़ पर
रत्नखचित, जिसे मैं सदा गले में पहने रहता था। गले की तावीज़
उतार कर मैं उसे एकटक देखने लगा। रात हो गई थी और न जाने
देखते-देखते कब मेरी आँख लग गई। तन्द्रावस्था में मैंने देखा कि
एक मोहनी मूर्ति मेरे सामने खड़ी मुस्करा रही है। सो बेटा, ऐसी
ज्योतिर्मयी मूर्ति आज तक मैंने स्वप्न में भी नहीं देखी। किशोरा-
वस्था और प्रज्वलित सौन्दर्य! वह मूर्ति नाना प्रकार के रंगीन प्रकाशों
के संयोग से बनी थी। मैं अचेत सा अपलक आँखों से यह सब देखता
रहा। इसके बाद धीरे धीरे रोग-मुक्त हो गया।"

जायसवालजी अचानक चुप हो गये। मैंने देखा कि उनकी आँखें
जल हो गई हैं और चेहरा अत्यन्त गम्भीर हो गया है। आकाश में
रे चमक रहे थे। आधी रात बीत चुकी थी। बिजली के स्वच्छ

प्रकाश में संगमर्मर का बरामदा पारे की तरह चमक रहा था। हम एक-दूसरे के सामने चुपचाप बैठे थे। भगवान् कृष्ण के जन्म-ग्रहण करने का अवसर आ गया था—दूर से शंख-घंटे की आवाज़ आ रही थी। हवा रुकी हुई थी और फूली हुई मालती की महक छा रही थी। मैंने कुछ पूछने की कोशिश की, पर गम्भीर वातावरण का ऐसा दबाव मन पर पड़ रहा था कि मुँह से शब्द भी नहीं निकलना चाहते थे—ऐसा लगता था कि जीभ भी अलसा गई हो जो अब हिलना-डुलना पसन्द नहीं करती थी। महानास्तिक जायसवाल जी को भावावेश में देखते हुए हमने कुछ क्षण मानो स्वर्ग में बैठकर विताये। एक बार भाई परमानन्दजी ने श्री विष्णुपद मन्दिर में जाकर दर्शन किया। हम भी साथ थे। उन्होंने कहा—"महतोजी, जब मैं जेल में जीवन-मरण के झूले पर झूल रहा था, अचानक मेरा हृदय न जाने कैसा हो गया। तब से मैं भगवान् का स्मरण करके आत्मविभोर हो उठता हूँ।" ख़ैर, वह दृश्य ऐसा मनोवेधक था कि उसका वर्णन करना असम्भव है। गहरी निस्तब्धता में दीवार की घड़ी का "टिक टिक" शब्द गूँज रहा था, मानो निस्तब्धता के हृदय में घड़ी प्रत्येक क्षण आक्रमण कर रही हो। यह दो साल की पुरानी घटना है।

इतना ही नहीं, यदि हम यह कहें कि डाक्टर जायसवाल भूत-प्रेत तक को मानते थे तो अत्युक्ति न होगी। उनको सन्देह हो गया था कि उनकी कोठी में प्रेत का मनहूस डेरा पड़ गया है। उनका यह सन्देह इतना दृढ़ हो गया कि किसी सच्चे तान्त्रिक की खोज में लग गये।

श्राद्धकर्म-आदि के ख़िलाफ़ बहस करते समय हमने देखा है कि जायसवालजी अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक पुराने आस्तिक विचारों की छीछालेदर कर डालते थे। वे सदा इसी बात पर ज़ोर देते थे कि

ईश्वर, परलोक, धर्म आदि बहस के विषय हो सकते हैं, पर ये नित्य
जीवन में प्रतिष्ठित नहीं किये जा सकते। श्राद्ध-कर्म के ख़िलाफ़ जायस-
वालजी के तर्क इतने प्रबल होते थे कि एक बार एक शास्त्रीजी ने अपने
पचीस साल के स्वाध्याय का बल लगाया और श्राद्ध आदि कर्मों का
समर्थन करना चाहा, पर उन्हें अच्छी तरह विश्वास हो गया कि अभी
उनका अध्ययन और शास्त्रज्ञान अधूरा है। बैरिस्टर होने की हैसियत
से जायसवालजी की दलीलें इतनी तीखी होती थीं कि शास्त्रीजी जो
उत्तर-भारत के इने-गिने पण्डितों में हैं, कुछ ही क्षण के बाद निरुत्तर
हो गये और उन्हें भी यह स्वीकार करना पड़ा कि श्राद्ध आदि कर्मों में
अन्धश्रद्धा अधिक और वैज्ञानिक तथ्य कम मात्रा में है। जब जायसवाल
जी हाईकोर्ट चले गए तब शास्त्री जी हमसे कहने लगे—"ये तो चार्वाक
के भी गुरु निकले।" उन्हीं जायसवाल जी के सम्बन्ध में यदि कोई
कहे कि वे स्वयम् गयाश्राद्ध करने को उत्सुक थे तो सहसा इस बात पर
विश्वास नहीं होगा। पिछले साल जब वे ज्वर-ग्रस्त थे तब हम देखने
गये। हमसे उन्होंने कहा—"बेटा, तुम यह मत सोचना कि मैं पूरा
नास्तिक हूँ। मैं देवी-देवता क्या, भूत-प्रेत भी मानता हूँ, विश्वास
करता हूँ, पर फ़ैशन के लिहाज़ से श्राद्ध आदि का विरोध करना पड़ता
है। मैं स्वयं श्राद्ध करना चाहता हूँ। पितरों की गति हो जानी
चाहिए। इधर हमारे परिवार में जो कुछ अनहोनी हो रही है वह
सम्भवतः पितरों के ही कोप से। मैं आनेवाले पितरपख को गया
आऊंगा—एक विद्वान् ब्राह्मण ठीक रखना। टिकारी के महाराज की
कोठी में तीन दिन ठहरूंगा। और तुम भी मेरे साथ साथ वेदियों पर
चलना, जहां श्राद्ध करने मैं जाऊंगा।" इतना कहकर उन्होंने कहा—
"बिना विष्णु चरणों पर पिंड दिये मेरे कष्ट दूर नहीं होने के।"
इसके बाद ?

इसके बाद डाक्टर साहब के परिवार में एक बहुत ही चिन्तनीय दुर्घटना हो गई। उनके एक अनुज का अकाल में अन्त हो गया। इस कष्ट से घबराकर जायसवाल जी ने हमको लिखा—"यह क्या हुआ? मैं पितृ-ऋण का भार सिर से उतारना चाहता था, पर यह तो अनुजऋण का वज्रपात हुआ। क्या ईश्वर की यही इच्छा थी? बेवफ़ा स्वामी अपने आज्ञाकारी सेवक पर छिप छिप कर प्रहार कर रहा है। क्या ईश्वर सचमुच दयालु है—मोहन!"

भला हम इस प्रश्न का क्या उत्तर देते? अब पाठक समझ सकते हैं कि जायसवाल जी नास्तिक थे या पक्के आस्तिक। ईश्वर-विरोध या तो वे आस्तिकों को चिढ़ाने के लिए करते थे या मौज में आकर। एक बार उन्होंने हमसे कहा था—"एक मनुष्य सम्राट् का अत्यन्त भक्त है। उनकी मूर्ति की पूजा करता है। उनके जन्म-दिवस पर व्रत रखता है। 'सम्राट्-चरित' का स्नान करके पाठ करता है और माला लेकर सम्राट् के नाम का संकल्प छोड़ कर नियमित रूप से जप करता है, पर सम्राट् की सरकार का एक भी क़ानून नहीं मानता और पद-पद पर क़ानून की अवहेलना करता है। ठीक इसके विपरीत दूसरा मनुष्य सम्राट् की भक्ति नहीं करता, पर सरकार के बनाए हुए प्रत्येक क़ानून को सिर झुका कर मानता है और उसके अनुसार आचरण करता है। क्या यह तुम बतला सकते हो कि इनमें सच्चा राजभक्त कौन है?"

इस साफ़ और सीधे प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है, यह प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। जो रात-दिन ईश्वर-भक्ति करता है, पर ईश्वर के बनाये सत्य, दया, अहिंसा, प्रेम, शुद्धाचरण आदि नियमों की अवहेलना करता है वह तो पूरा नास्तिक ही नहीं बल्कि नरपशु है। जायसवाल जी का नास्तिकवाद ऐसा ही था। हाँ, एक बात यह थी कि

वे अपने भीतर शक्ति का अनुभव नहीं करते थे जिसके बल पर वे ईश्वर और धर्म की वकालत खुलकर कर सकते। क्या पाश्चात्य सभ्यता में एक दुर्गुण यह भी है ?

ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों पर भी जायसवाल जी को अंध-श्रद्धा थी। वे अपने सम्बन्ध में ज्योतिषियों से प्रायः पूछा करते थे। अपनी पुत्री धर्मशीला जी के विषय में वे एक ज्योतिषी से हमारे सामने पूछ रहे थे कि 'वह हाई-कोर्ट की जज हो सकेगी या नहीं।' ज्योतिषी जी ने जब हिसाब बैठा कर इस असंगत सत्य को "हाँ" कह कर स्थिर कर दिया तब बच्चे की तरह प्रसन्न होकर वे धर्मशीला को पुकारने लगे। उन ज्योतिषी जी के पास ऊंचे ऊंचे अंगरेज़ अधिकारियों के प्रशंसापत्र थे और संभवतः जायसवाल जी को इस ओर आकर्षित होने का यही कारण रहा हो। अंगरेज़ों की गवाहियों पर अविश्वास प्रकट करने का बल हमारे जैसे पराधीन जीवों के हृदय में नहीं है। जायसवाल जी जैसे उन्नत और स्वतन्त्र विचार के मनुष्य भी अपने को इस निम्न-कोटि के विश्वास से वंचित नहीं रख सके।

(५)

यों तो जायसवाल जी देखने-सुनने में एक ख़ासे 'साहब' से लगते थे, पर उनका हृदय भारतीय था। वे सदा एक भारतीय की तरह सोचा करते थे और जब अवसर आता था तब एक भारतीय की तरह आचरण भी करते थे। हाँ, यह बात अवश्य थी कि वे सरकार और जनता दोनों को प्रसन्न रखना चाहते थे। ऐसी कमज़ोरी जायसवाल जी की जैसी स्थिति में जीवन व्यतीत करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में पाई जा सकती है। उन्होंने न तो कभी खुल कर जनता का साथ दिया और न सरकार का। सरकार की रंगीनियों पर भी वे फ़िदा रहे और जनता की दुर्गति पर भी आंसू बहाया किये। यह एक अजीब नीति थी, पर

इतना तो अवश्य ही कहना होगा कि अपने जीवन के शेष दिनों में वे जनता की ओर अधिकाधिक खिसके— सरकार से कुछ दूर ही होते गये। हम नहीं कह सकते कि इसका कारण क्या था। वह हृदय-मंथन का परिणाम था या हताशता का नतीजा। कुछ भी हो, पर हुआ ऐसा ही। इंगलैंड में रहते हुए वे खुल कर राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेकर भारत का पक्ष-समर्थन करते थे और यही कारण था कि उनकी उन चिट्ठियों पर जो विलायत से भेजी जाती थीं, कड़ा सेन्सर बैठा दिया गया था। हमें उनकी फ़ाइलों में से ऐसे एक-दो पत्र देखने को मिले हैं जिन पर सेंसर की मुहर लगी हुई है और लिखा हुआ है— "ओपेन्ड बाई सेंसर"। सम्भवतः लड़ाई के ज़माने की बात हो, पर है बात ऐसी ही।

जायसवाल जी गांधी जी के हिमायती थे, पर वे 'खद्दर से देशोद्धार' होने की बात नहीं मानते थे। वे चाहते थे कि देश कल-कारख़ानों से भर दिया जाय। वे भारत को खींच कर २०३७ ईसवी या ३०३७ ईसवी में पहुँचा देने के समर्थक थे, न कि २०-२५ सौ साल पीछे। उनका विचार था कि अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए भारत को संसार के साथ आगे बढ़ना चाहिए और संभव हो तो संसार से भी आगे। गृह-उद्योग और चर्खा खद्दर तो भारत को खींच कर मध्य युग में ले जायगा और इधर संसार नाना प्रकार के वैज्ञानिक साधनों से अपनी चरम उन्नति कर रहा है। क्या भारत में फिर से 'सूत्रयुग' या 'प्रस्तरयुग' क़ायम किया जायगा? यह तो अप्रगतिशील ढंग है, जिसका विरोध होना चाहिए। जायसवाल जी शक्ति के उपासक थे। कहते थे कि इटली ने अबीसिनिया को दबोच डाला, ठीक ही किया। इस बीसवीं सदी में भी रास तफ़ारी क्यों पिछड़े रहे? यह दोष उन्हीं का है, अतएव मैं इटली को धन्यवाद देता हूँ कि दूसरे कमज़ोर राष्ट्रों के

[आरती के

सामने उनसे शक्ति की महिमा को स्पष्टता से प्रकट करके उन्हें सं
जाने की चेतावनी दे दी है।

जायसवाल जी के विचार से दुर्बल मनुष्य दया का पात्र नहीं है
प्रत्येक मनुष्य को सबल होना चाहिये। ईश्वर सबल को लाठी में
निवास करता है न कि निर्बल की पीठ में। एक सबल व्यक्ति यदि
दूसरे कमज़ोर की गर्दन मरोड़ देता है तो वह ईश्वर जिसकी पूजा कमज़ोर
व्यक्ति सदा करता है, गर्दन मरोड़ने वाले की सहायता करेगा। ईश्वर
ने सदा बलवानों का साथ दिया है। पुजारियों की पूजा से ईश्वर
उतना नहीं प्रसन्न होता जितना वह बलवानों की प्रचंड भुजाओं
रीझता है। क्या इस बात का विरोध किया जा सकता है?

आपने इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर जायसवाल जी ने ए
बहुत ही सुन्दर व्यंग्यात्मक पद्यबद्ध प्रहसन लिखा है। यह प्र
सन हमारे पास सुरक्षित है क्योंकि वे लिखते जाते थे और हमारे पा
भेजते जाते थे। उसका कथानक इस प्रकार है—एक बार कुछ सज्जन
ईश्वर के पास गये। उन सज्जनों के नाम जायसवाल जी, राहुल बाबा,
वियोगी जी, दिनकर जी, जिन्ना साहब, बेनी-पुरी जी और शौकतअली
साहब हैं। ईश्वर अंगरेज़ी, मुसलमानी और भारतीय पोशाक एक
साथ पहने बैठे हैं। प्रश्नोत्तर की झड़ी लग गई। ईश्वर ने धमकी
स्वर में कहा—

"नर मैंने क्या क्या किया आंख खोल सब देख।
रचना विश्व विचित्र की और तुम्हारा भेख॥"

इस पर उन लोगों ने ईश्वर को फटकारना शुरू कर दिया। इस
वार्तालाप में ईश्वर ने स्वीकार किया है कि मैंने ही महमूद गज़नवी
की सहायता देकर सोमनाथ को नष्ट करवाया और गोरी की सहायता
के भारत को गुलाम बनाया। सेंट सोफ़िया के शरणार्थियों का वध

कराया इत्यादि इत्यादि। मैं सदा बलवानों का साथ देता हूँ। कोरे भक्तों को मैं घृणा की दृष्टि से देखता हूँ।

उनके इस प्रहसन से प्रगट होता है कि उनसे राजनैतिक विचार कितने सुलझे हुए थे। इधर तो उन्होंने ज़मींदारी प्रथा की व्यर्थता पर एक लेख भी पत्रों में छपवाया था, यद्यपि उनके पेशे का संबंध सीधे ज़मीदारों से ही था। हमारे प्रश्न करने पर उन्होंने कहा—"अब सत्य बोलने का शौक़ चर्राया है। यदि जीवन रहा तो इससे भी "भयंकर सच बोलूंगा। तुम इतने ही से चौंक पड़े भाई!" खेद है कि उनका 'भयंकर सच' हम नहीं सुन सके। सत्य बोलने की उनकी महत्त्वाकांक्षा 'नरनारायण-संवाद' शीर्षक उनके प्रहसन के साथ ही समाप्त हो गई।

(६)

जब जब भाषा के सम्बन्ध में जायसवाल जी से बातें करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्हें सदा 'घराऊ हिन्दी' की वकालत करते हमने सुना। वे यद्यपि पण्डित जवाहरलाल जी की तरह हिन्दी में उर्दू फ़ारसी के शब्द घुसेड़ने के विरोधी थे, तथापि भाषा का रूप घराऊ बनाने के ही पक्ष में थे। साफ़-सुथरी और सीधी-सादी भाषा के इतने प्रेमी थे कि ऐसी भाषा के लेखक को तहे दिल से दाद देते थे। हरिऔध-अभिनन्दन-ग्रन्थ में उन्होंने सीधी भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। देवकीनन्दन जी खत्री, श्री बालमुकुन्द गुप्त और पण्डित पद्मसिंह जी की भाषा के बहुत ही प्रशंसक थे। इन्हें वे 'घराऊ हिन्दी' के आचार्य मानते थे।

हाँ, तो जायसवाल जी इधर कोई १५–२० साल के बाद फिर हिन्दी लिखने की ओर ध्यान देने लगे थे। उन्होंने कई एक लेख लिखे भी। एक बार लिख कर निश्चिन्त नहीं होते थे—कई दिनों तक लगातार काट-कूट करते रहते थे। 'हरिऔध-अभिनन्दन-ग्रन्थ'

की भूमिका लिखकर हमें साफ़ करने को दी। उन दिनों हम उन्हीं की कोठी में ठहरे हुए थे। हम बार-बार कापी साफ़ करते और वे बार-बार शब्दों को उलट-पलट देते। गिन कर हमने सात बार उस छोटी-सी भूमिका की नक़ल पर नक़ल की। एक रात को जब हम सो रहे थे, आधी रात को वे आये और हमें जगाया। अचकचाकर हम उठे। तब कहने लगे—"बच्चा, नाराज़ मत होना। एक शब्द उस भूमिका में बदल दो। सोते समय मुझे अचानक वह शब्द याद आया। चाहा कि सवेरे देखा जायगा, पर दिल में ऐसा तूफ़ान पैदा हो गया कि फिर नींद नहीं आई। लाचार तुम्हें कष्ट देने आया। मेरे सामने तुम वह शब्द बदल दो तो मैं अपने हृदय के भार से मुक्त हो जाऊँ और फिर गहरी नींद का मज़ा लूँ।"

वह शब्द था 'रूपवान्' जिसे "सुन्दर" के स्थान पर लिखना था। इसे कहते हैं लगन !

जायसवालजी भगवान् बुद्ध पर एक महाकाव्य लिखवाने के इच्छुक थे और यह भार हम पर उन्होंने लादा था। छन्द वंशस्थ पसन्द किया था और भाषा वही घराऊ हिन्दी। उन्होंने एक बार लिखा था—"भगवान् बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण पर एक महाकाव्य जल्द लिखो और भाषा अपनी काम में लाना। एक नमूना देता हूँ—

"पढ़ा पढ़ाया लिख कीर्ति प्राप्त की
नहीं रही भूतल बीच सोचना।"

'अधीतमध्यापित' की जगह 'पढ़ा-पढ़ाया' समझ गये न ? आज ही से हाथ लगा दो।"

खेद है कि घराऊ झंझटों के कारण हमने अब तक उनका आज्ञा-पालन नहीं किया।

हिन्दी के सम्बन्ध में जायसवालजी के विचार प्रगतिशील थे और

वे हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानने में गर्व का अनुभव करते थे। बिना अनिवार्य आवश्यकता के हिन्दी में ही अपना काम चलाते थे। एक बार एक प्रोफ़ेसर साहब उनसे मिलने आये और लगे अँगरेज़ी में दहाड़ने। जायसवालजी ने हिन्दी में उत्तर दिया तब भी आपने फिर अँगरेज़ी की ही झड़ी लगाई। अब उनकी अक्खड़ता जागी और फ्रेंच में बोलना आरम्भ किया। प्रोफ़ेसर साहब अवाक् रह गये। उन्होंने चुभती हुई भाषा में कहा—"जनाब, जब विजातीय भाषा में ही बोलना है तब अँगरेज़ी से अधिक मधुर और सुसंस्कृत फ्रेंच है। इसी में बातें हों।" हिन्दी-प्रेम का शायद यह चरम कोटि का प्रमाण है। लिफ़ाफ़े पर पता तक हिन्दी में ही लिखा करते थे—कम से कम उन्होंने जितने पत्र हमारे पास भेजे, सभी पर हिन्दी में ही पता लिखा। हिन्दी बोलते समय बीच बीच में अँगरेज़ी-शब्द घुसेड़ देना उनको कतई पसन्द न था। उनके विचार से यह 'मूर्खता का द्योतक' प्रयत्न था।

(७)

"ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है।
मुर्दादिल क्या ख़ाक जिया करते हैं।"

जायसवालजी महान् थे और वे सदा महत्ता की ओर ध्यान रखते थे। स्वाभिमानी तो ऐसे थे कि अपने मन और स्वाभिमान के प्रतिकूल वातावरण में क्षण भर भी नहीं ठहरते थे। आक्सफ़ोर्ड में चीनी-भाषा के स्कालर और लेक्चरर का पद तथा उन्हें इसी विषय पर मिलनेवाला दुर्लभ स्कालरशिप भी प्राप्त हुआ था, पर अपनी अक्खड़ मनोवृत्ति के कारण आक्सफ़ोर्ड की प्रोफ़ेसरी को ठुकराकर अचानक चलते बने। एक बार अपने गत-जीवन के विषय में कहा था—"मैं अपने को पहचानता हूँ और पहचानता हूँ दूसरों को भी जो मेरे सम्पर्क में आते हैं। अपने-पन पर जहाँ धक्का लगने की संभावना होती है, वहाँ मैं क्षण भर भी

टिकना नहीं पसन्द करता, चाहे कंचन बरसे मेह ।

हमारे मित्र एक राजा साहब हैं। धनी हैं, बड़ी रियासत है। विद्वान् और गुणग्राही भी हैं। आप जायसवालजी के दर्शनों के लिए बहुत ही उत्सुक थे। कई बार राजा साहब ने हमसे अपने मन की बात कही। साधारण बुद्धि से हमने यही सोचा कि जायसवालजी राजा साहब की कोठी पर अवश्य आवेंगे, क्योंकि वे एक बैरिस्टर हैं और अमीरों की ख़ुशामद करने की उन्हें आदत भी होगी ही, पर उस समय हमारे सामने अपने हृदय की नगण्यता स्पष्ट हो गई जब जायसवालजी ने बड़े ज़ोर से कहा—"कभी नहीं। मैं पहले किसी राजा-महाराजा को सलाम करने नहीं जाऊँगा। वे यदि चाहें तो मेरी कुटिया पर पधारकर मुझे दर्शन दे सकते हैं।" हम सन्नाटे में आ गये। क्या हम यह भूल जायँ कि सबसे पहली बार बिना बुलाये ही—अपने मन से—जायसवालजी गया की गन्दी गलियों को पार करते हुए हमारी कुटिया पर पधारे थे। जो हो, "ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज नभ्रत बिसारि जन के हित होत प्रकट यह रीति।" आख़िर हुआ भी यही। राजा साहब बड़ी प्रसन्नता से जायसवालजी की कोठी पर पधारे और फिर तत्काल दोनों गहरी मित्रता के पाश में बँध गये। शोक है कि यह मित्रता महज़ डेढ़ साल तक स्थायी रह सकी और जायसवालजी ने अनन्तपथ की अचानक यात्रा करके अपने मित्र को अकेला छोड़ दिया। राजा साहब आज आठ-आठ आँसू बहा रहे हैं। वे जायसवालजी की मृत्यु के बाद हमसे कहने लगे—"जायसवालजी ने मुझे धोखा दिया। वे बेवफ़ा मित्र निकले। उनकी चर्चा मत करो। मैं उन पर सख़्त नाराज़ हूँ। यदि मुलाक़ात हुई तो ऐसी डाँट बतलाऊँगा कि फिर वे भी समझेंगे कि किसी मित्र से पाला पड़ा था।" कितने मर्मभेदी हैं ये शब्द !

जायसवाल जी परिस्थिति से डट कर लोहा लेते थे और शायद हारने की तो आदत ही नहीं थी। तरह-तरह की पारिवारिक विपत्तियों को वे फूल-माला की तरह हँसते-खेलते उठाकर चूम लेते थे और फिर क्या मजाल जो चेहरे के भावों में भी अन्तर पड़े। खुले हाथों ख़र्च करने का दंड सभी को मिलता है और जायसवाल जी भी अपने इस 'अपराध' की सज़ा बार-बार भोगा करते थे। काफ़ी आय थी और व्यय का भी कोई हिसाब नहीं था। कितने ग़रीब विद्यार्थी और ग़रीब परिवार उनके दान से जीते थे, यह बतलाना कठिन है। दान भी ऐसा कि उसके विषय में किसी को कानोंकान ख़बर तक न हो। एक बार उन्होंने ३००) का नोट देकर हमसे कहा—"अमुक सज्जन को चुपके से दे दो। उनका लड़का बीमार है। हालत नाज़ुक है। उनके पिता से हमने मुक़द्दमे में काफ़ी पैसे पाये हैं। अब बेचारे का दिन बिगड़ गया है। कह देना कि चिन्ता न करें, मैं सेवा करता रहूँगा।"

अपने प्राइवेट सेक्रेटरी से भी वे दान के मामले में पर्दा रखते थे। हमने अपनी आँखों से देखा है कि कोठी पर ऐसे कई सम्भ्रान्त, पर परिस्थिति की मार के कारण कातर, सज्जन आते थे जिन्हें चुपके-चुपके जायसवाल जी काफ़ी सहायता दिया करते थे। जो कुछ कमाते, इसी तरह बाँट-बूटकर निश्चिन्त हो जाते थे। अक्सर कहा करते—"जब मेरा हाथ ख़ाली रहता है और कोई कुछ माँगने आता है और उसकी माँग पूरी करने के लिए मुझे विशेष चिन्ता का सामना करना पड़ता है तब मेरा हृदय बहुत ही पुलकित हो उठता है। मैं सोचता हूँ कि मैंने कुछ किया।" जायसवाल जी अपनापन का ध्यान रखते थे और यही कारण है कि उन जैसे विद्वान् को पटना-विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० को डिग्री बहुत देर करके दी। और

तब भी 'डी० लिट्०' की डिग्री नहीं दी। यह तो मानी हुई बात है कि पी-एच० डी० का नम्बर दूसरा है। सरकार की ओर से भी जायसवाल जी को कोई उपाधि नहीं मिली। अक्खड़पन और अत्यधिक आत्मसम्मान के कारण ही वे इन सम्मानों से वंचित-से रहे। यह युग ख़ुशामद और प्रोपेगेंडा का है। वे ख़ुशामद करना 'आत्मघात' समझते थे और अपने लिए प्रोपेगेंडा करना 'नीचता'। कोई भी विश्वविद्यालय उनको सम्मानित करके अपना सम्मान बढ़ाता और कोई भी सरकार ऐसे विद्वान् को उपाधि-प्रदान करके अपनी उपाधियों की बहुमूल्यता प्रमाणित करती, पर जायसवाल जी का ध्यान इस ओर न था। वे अपने आपको प्राप्त कर चुके थे, उन्हें दिखाऊ सम्मान की आवश्यकता ही नहीं थी। 'नाइटहुड' या 'डाक्टरिएट' का मूल्य उनकी महत्ता के सामने नहीं था। उनके पांडित्य की पूजा संसार कर रहा था और करता रहेगा। सरस्वती ने उन्हें जो सम्मान प्रदान किया था वही यथेष्ठ था। हमारे यहां तो राजे-महराजे और पूँजीपति डी० लिट्० बनाये जाते हैं। पंडितों की पूछ ही कहाँ है? पराधीन देश से कोई इससे अधिक आशा रख भी नहीं सकता।

(८)

महात्माजी और नेहरू जी ने भी कई स्थानों पर लिखा है कि यदि उनमें विनोद की मात्रा का अभाव होता तो उनका जीवन भारभूत हो गया होता। विनोद जीवन की सरसता को, जीवन के लड़कपन को क़ायम रखता है। यही एक ऐसा गुण है जिससे हम अपनी भावनाओं को सरस और सजीव बनाये रख सकते हैं।

हमने जितने महापुरुषों के दर्शन किये हैं उन्हें ऊँचे दर्जे का विनोदी पाया है। हमारे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ तो विनोद-मूर्त्ति हैं ही और उन्हें ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि वे कवि हैं। पर जायस-

वाल जी जैसे पुरातत्त्ववेत्ता और महात्मा जी जैसे सक्रिय राजनीतिज्ञ भी अवसर मिलते ही विनोद का आश्रय ग्रहण करते हैं। जायसवाल जी की विनोदी प्रकृति का केवल एक ही उदाहरण यहां पेश करेंगे।

एक बार की घटना है। संध्या-समय हम उनके पास बैठे थे। एक बंगाली बैरिस्टर साहब भी पधारे। इधर-उधर की चर्चा चली और तत्काल योग के चमत्कारों का ज़िक्र शुरू हो गया। जायसवाल जी ने कहना आरंभ किया—"अजी जनाब, ये जो सज्जन बैठे हैं (हमारी ओर इशारा करके) एक पहुंचे हुए योगी हैं। जब हम नेपाल जा रहे थे तब इन्हें साथ नहीं लिया[1]। पासपोर्ट में गुंजाइश नहीं थी कि ले जायँ। इन्होंने आग्रह किया, पर हम लाचार थे। खैर हम ठीक समय पर चल पड़े। नेपाल पहुँचते ही हमने इन्हें अपने ठहरने की जगह पर खड़ा पाया। पूछने से पता चला कि ये हज़रत एक सप्ताह से यहाँ ठहरे हुए हैं। हम चकित हो गये। एक सप्ताह पहले तो ये हमारे साथ यहाँ (पटने में) थे। कुछ ही घन्टों में नेपाल कैसे पहुँच गये! खैर, जब घर लौटे तब धर्मशीला की अम्मा से पता चला कि ये नित्य कोठी में आते थे। और हमारा संवाद लेकर तथा घन्टे दो घंटे बैठकर चले जाते थे। एक दिन भी नागा नहीं हुआ। अब आप ही बतलाइये कि एक ही आदमी दो स्थानों पर एक ही समय कैसे उपस्थित हो सकता है। इतना ही नहीं, भाई साहब, एक बार मुझे एक ऐसी पुस्तक की ज़रूरत पड़ी जो तिब्बत में राहुल बाबा जी के पास थी। उन दिनों राहुल जी तिब्बत में संस्कृत के लुप्त-प्राय ग्रंथों की खोज कर रहे थे। मैंने इनसे उसका ज़िक्र किया तब कहने लगे कि 'कल पुस्तक ला दूंगा' सुबह आप पुस्तक की पाँडु-लिपि के साथ मेरे पास आये और

[1] नेपाल-सरकार ने आपको ससम्मान बुलाया था और वहां इन्हें राजाओं जैसा सम्मान प्रदान किया था तथा खिलअत दी थी।

४-५ सप्ताह के बाद राहुल जी का पत्र आया—"वियोगी न जाने कै यहां आये और अमुक पुस्तक लेकर फिर न जाने किधर चले गये पता नहीं।" इसका नाम है योग का चमत्कार!"

बेचारे वैरिस्टर साहब अवाक्! वे कुछ क्षण ठहर कर अपन बिखरी हुई बुद्धि को एकत्र करते रहे। इसके बाद उन्होंने लपकक मेरे पैर पकड़ लिये और बोले—"बाबा आर तोमाके छाड़िबो ना आमार उद्धार करो बाबा। आमी एक जन तोमार पतित पुत्र।" हंसी के मारे हमारा पेट फटा पड़ता था, पर जायसवाल जी तो ऐसे गंभीर बैठे थे, मानो वे जो कुछ कह रहे हैं अक्षरशः सत्य ही है। वैरिस्टर साहब के आने के बाद हँसते हँसते हम थक गए, पेट में बल पड़ गये। घास पर बैठ कर हम तो क़रीब दो-तीन घन्टे तक हँसते रहे। ऐसी ऐसी अनेक घटनायें हैं जिनकी चर्चा इस लेख में सम्भव नहीं है। वैरिस्टर साहब के चले जाने के बाद जायसवाल जी ने कहा—"देखा विलायत से यह वैरिस्टर हो आया है, पर अक्ल के नाम पर बचऊ को कोंप भी हाथ नहीं लगी।

(९)

पिछले सप्ताह! हाँ, इसी पिछले सप्ताह किसी निजी काम से पटना गया। सुना कि राहुल जी जायसवाल जी की कोठी में मौजूद हैं, पुरानी फ़ाइलों की जाँच कर रहे हैं। जी तो नहीं चाहता था, पर एक बार कोठी के दर्शन और राहुल जी के चरण छूने की लालसा ने ज़ोर मारा। राहुल जी आज यहां हैं तो कल वहां। वे रूस जाने वाले हैं। फिर मुलाकात हो या न हो, यही सोच कर चल पड़ा। प्रत्येक क़दम पर पीछे लौट जाने की इच्छा होती थी, गला भर आता था और जी चाहता था कि रास्ते में ही कहीं बैठ कर पहले जी भर कर रो लें, दिल का भार हलका कर लें, तब आगे बढ़ें।

सोचता सोचता कोठी तक पहुँचा। निर्जन और मनहूस कोठी को दूर ही से देखकर हमारा धैर्य पानी की दो बूंदों में परिणत होकर आँखों की राह टपक पड़ा। प्राण निकल जाने के बाद शरीर देखने में जैसा लगता है, कोठी की भी वैसी ही हालत थी। धीरे धीरे पोर्टिको की सीढ़ियों पर चढ़ा। एक बार चारों ओर नज़र दौड़ाई, कोने कोने में मकड़ी का जाला देखा और देखा बिजली के क़ीमती और सुन्दर 'शेड' पर घास-फूस रख कर एक गौरैये को घोंसला बनाते। जायसवाल जी का प्यारा कुत्ता जो सदा मखमल के गद्दे वाली कुर्सी पर बैठा रहता था, एक पतली चेन में बँधा हुआ अपने जीवन की शेष घड़ियों को हृदय की धड़कन पर गिन रहा है। कुत्ते का शरीर घावों से भरा हुआ है और अनगिनत मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। पास ही थोड़ा-सा भात पड़ा है और दो कौवे फुदक फुदक कर भात पर चंचु-प्रयोग कर रहे हैं। कैसा मनहूस दृश्य है! सभी कमरों के दरवाज़ों में बड़े-बड़े ताले लटक रहे हैं और दरवाज़े धूल से भरे हुए हैं। हमने साहस करके पुकारना आरंभ किया। थोड़ी देर के बाद किसी थके और ऊबे हुए मनुष्य ने पूछा—"कौन है?" हाय, अपना नाम बतला कर किसे परिचय दें! कौन समझेगा कि यह आगन्तुक कौन और इस मकान के मालिक का इससे क्या संबंध था! हमने जवाब दिया—"राहुल बाबा हैं।" फिर उसी कर्कश स्वर में उत्तर मिला—"हैं, इधर से आइये।"

× × ×

उसी सुन्दर बरामदे में जहां जायसवाल जी अपने आगन्तुकों का स्वागत किया करते थे, राहुल जी काग़ज़ों के ढेर में बैठे हुए थे। जायसवाल जी की पुरानी चिट्ठियों में से काम की चिट्ठियाँ छांटकर शेष को नष्ट कर देने का भार राहुल जी को दिया गया था। संसार के विद्वानों के पत्रों का ढेर लगाये राहुल जी मुस्करा रहे थे। ऐसी मुस्करा-

हट को देख कर सहृदय व्यक्ति बिना रोये न रहे। वे हमारी ओर घूम कर कहने लगे—"अच्छा हुआ, आ गये। मैं जायसवाल जी की एक जीवनी लिखूंगा। तुम भी चाहो तो अपने मतलब के पत्र चुन लो।"

हमसे पूछा—'बाबा, सुना था कि आप रूस जायेंगे। जीवनी कैसे लिखी जायगी ?''

बाबा गंभीर निःश्वास त्याग कर बोले—''हां, अभी तो तिब्बत जाना है। यह मेरी तिब्बत की अंतिम यात्रा होगी। वहां का काम भी शेष ही हो गया है। फिर रूस जाऊंगा। अब भारत में मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं शेष रहा। सदा के लिए अपनी मातृ-भूमि से विदाई लूंगा। एक-एक करके मेरे हृदय का सभी बंधन टूट चुका है। यों तो पहले से ही मेरा मन उचट चुका था, पर जायसवाल जी ने मुझे अपने स्नेहपाश में बाँध रक्खा था। जब वे भी चले गये तब फिर यहां रक्खा ही क्या है ? अब मैं भी भारत से अंतिम बार चला।"

इतना कह कर राहुल जी ने दूसरी ओर मुंह फेर लिया।

वर्षा की उदार और सजल संध्या। सुनसान कोठी में हम दो व्यक्ति एक दूसरे के सामने बैठे हैं। सामने हरे-भरे मैदान पर श्रवण के मेघ धीरे धीरे बरस रहे हैं, और—और इस उदास गोधूलि की धुंधली छाया में हम धीरे धीरे ढँके जा रहे हैं। जायसवाल जी ! जिसे आपने अपना पुत्र कह कर ग्रहण किया था उसकी यह श्रद्धांजलि स्वीकार करें।

महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा

डा० गंगानाथ झा

पं० विभूतिनाथ झा (डिप्टी मजिस्ट्रेट, गया) ने मेरे सामने "चाय" की प्याली रखते हुए मुस्कराकर कहा—"पिता जी यहाँ इसी सप्ताह आ जायँगे।"

❀ ❀ ❀

भादों के दिन थे। आकाश मेघाच्छन्न था। कोठी की खुली हुई खिड़कियों से पुरवैया के झकोरे आ रहे थे। कमरे के परदों से खेलकर हवा चली जाती थी। सामने, दिगन्तव्यापी खेतों पर, श्याम घटा की श्यामल छाया पड़ रही थी। दूर-दूर की हरी-भरी पहाड़ियों पर सुनहली धूप फैली हुई थी। धूप-छाँह की यह आँखमिचौनी अनुपम थी। खेतों के अन्तिम छोर पर कुछ गायें चर रही थीं। भादों की सजल दोपहरी शान्त थी। घटाएँ अभी-अभी बरस चुकी थीं। खेतों में जो जल जमा हो गया था, वह दर्पण की तरह चमक रहा था। मैंने भाई विभूतिनाथ से पूछा—"क्या सचमुच पिता जी आ रहे हैं?" बच्चों की-सी निर्दोष हँसी से पुस्तकों से भरा हुआ वह कमरा गूँज उठा। भाई विभूतिनाथ की हँसी से सचमुच मोती झरते हैं!

❀ ❀ ❀

पिछले सर्दी के दिनों की बात है। एक दिन मैंने डा० झा महोदय को एक पत्र लिखा था। उनकी जीवन-सहचरी का देहान्त हो चुका था। उत्तर आया—"मैं गया आऊँगा। तब तुमसे मिलूँगा। मैं अवश्य गया आऊँगा।" इत्यादि। उस समय मुझे विश्वास नहीं था कि प्रयाग विश्वविद्यालय का यह यशस्वी कुलपति, जो स्वयम् एक धनकुबेर और चूड़ान्त विद्वान् है, खँड़हरों की इस बस्ती में कभी पधारेगा।

मैंने "चाय" का आनन्दोपभोग करना प्रारम्भ किया। मेरे निक
ही फ़र्श पर भाई विभूतिनाथ, पालथी मारकर बैठे थे; और, ग्रामोफोन
में डा० रवीन्द्रनाथ गा रहे थे। मैंने निस्तब्धता भंग करते हुए कहा—
"क्या सचमुच पिताजी आनेवाले हैं? तुम झूठ तो नहीं बोलते!"
फिर वही खिलखिलाहट—वही स्वाच्छन्द्य-युक्त हास्य!

❀ ❀ ❀

संध्या ने गोधूलि का रूप धारण कर लिया। भाई विभूतिनाथ की
मोटर शहर की ओर चल पड़ी। रास्ते में कीचड़ भरी सड़क पर अपने
प्यारे पशुओं के साथ किसानों का दल मिला, जो मोटर के भय
भागनेवाली अल्हड़ गौओं को, कीचड़ में दौड़ाते हुए, सँभाल रहा था
मोटर दौड़ती हुई फल्गु नदी के पुल पर जा पहुँची। पश्चिम क
ओर सूर्यास्त हो चुका था। इस पर जुम्मा मस्जिद के ऊँचे-ऊँचे मीनार
दिखलाई पड़ रहे थे, मानों कोई मगरिब (पश्चिम) का नमाज पढ़
रहा हो। मोटर सरसराती हुई जनकीर्ण सड़कों पर पहुँच गयी?—
उफ्!

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ जी झा एम० ए०, डि० लिट,
एल-एल० डी० महोदय की सज्जनता का मूर्तिमान् प्रमाण मेरी तुक-
बन्दियों के द्वितीय संग्रह "एकतारा" के पृष्ठों पर, भूमिका के रूप
वर्तमान है। मुझ जैसे तुकबन्द की अर्थहीन लकीरों पर आपने भूमिक
लिखकर जिस उदारता का परिचय दिया है, उसका स्तुति-गान करना
इस लेख का उद्देश्य नहीं है। मैं तो उनके चरणों में उपस्थित होकर
जितना कुछ प्राप्त कर सका हूँ, उसी का यत्किंचित् वर्णन करना भर
चाहता हूँ। डा० गंगानाथ जी झा महोदय के सुपुत्र पं० विभूतिनाथ
झा एम० ए० जब से "गया" आये हैं, तब से मैं डा० झा महोदय
नित्य दर्शन करता हूँ। भाई विभूतिनाथ सौजन्यावतार हैं। क्यों

न हों ! जैसा वृक्ष, वैसा ही फल !

डा० झा महोदय अनन्त चौदस के दिन—सम्भवतः-गया पधारे। मैं तथाकथित अछूत (?) गयावाल पंडा हूँ। "पितरपख" गया के लिये तूफानी त्योहार है। देश-देश के धर्मप्राण यात्री, यहाँ, अपरिमित संख्या में, पधारते हैं। गयावाल पंडे इस मेले के संरक्षक, नेता और प्रधान व्यवसायी हैं। गयावाल पंडा होने के कारण मैं भी घपले में फँसा हुआ था। एक छोटी सी भीड़ का संचालन मेरे द्वारा भी हो रहा था। यद्यपि डा० झा महोदय का चरणस्पर्श करने के लिये मेरे प्राण विकल थे, पर समय कहाँ ! हाय रे मेरा दुर्भाग्य !

आज मेरी "डायरी" मुझे बतला रही है कि, मैं ५ सितम्बर, तदनुसार आश्विन कृष्ण १, को डा० महोदय के श्री चरणों में उपस्थित हुआ था। मैं कैसे उनकी सेवा में पहुँचा, इसका वर्णन सुनिये।

प्रातःकाल उठते ही मैंने अपने मुनीम से कह दिया कि, आज मुझे दोपहर को, किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना है। मुझ से तुम जितना काम ले सको, इसके पहले ही ले लो। मैं दोपहर को निश्चय ही जाऊँगा। बेचारे मुनीम पर आफत आ पड़ी! मैं निश्चय करके बैठ गया। भीड़ उमड़ पड़ी। नाना प्रकार के लेन-देन का बाजार गर्म हो गया। पंडागिरी करते-करते जब ११ बज गये, तब एक दम दामन झाड़ कर उठ खड़ा हुआ। यात्रियों के दिल में उदासी छा गयी। "पितरपख" में गयावाल पंडों का मूल्य बढ़ जाता है। साढ़े ग्यारह मास के उनके लाञ्छित, तिरस्कृत हृदय को इन्हीं १५ दिनों में सेहत हासिल होती है! पितरपख भर उन्हें देवत्व प्राप्त हो जाता है!

मैं सीधे स्थानीय फौजदारी कोर्ट की ओर भागा। वहां पहुँचते

न पहुँचते २॥ बजने का समय हो गया। गाड़ी छोड़कर
विभूतिनाथ के 'कोर्ट' में जा धमका। वकील, मुख्तार, वादी, प्र
वादी के आराध्य देव तथा मेरे प्रिय मित्र पं० विभूतिनाथ
झुकाये गोद-गाद कर रहे थे। लम्बे-लम्बे काले गाउन पहने वकी
का दल 'पेनल कोड' की किसी धारा की मनमानी व्याख्या कर रह
था। 'कठघरे' में फटी धोती पहने, अर्द्धमृत कुछ कङ्काल हाथ बांधे,
'हुजूर डिप्टी साहब' के चेहरे पर अपने भविष्य की छाया देख रहे
थे। मैं यथास्थान धीरे से जाकर बैठ गया। कार्य समाप्त करके,
भाई विभूतिनाथ ने लम्बी साँस लेकर, कहा—"चलो, पिता जी से
मुलाकात करा दूँ।"

❀ ❀ ❀

फल्गु के उस पार, प्रकृति की गोद में, एक दुमंजिला बँगला बन
हुआ है। इस सुन्दर बँगले को घेर कर प्रकृति ने अपने रूप क
बजार लगा रखा है। पूर्व ओर दिगन्त-व्यापी हरे-भरे खेत तथा
तीन ओर अमराई और नाना प्रकार के वृक्ष हैं। इसी बँगले में
भाई विभूतिनाथ का डेरा है। शेली और बायरन, कीट्स और
मिल्टन, कालिदास और भवभूति, माघ और श्री हर्ष आदि को लेकर
दिन भर इस कोठी में हो-हल्ला मचा रहता है। हारमोनियम औ
नाना प्रकार के वाद्य यन्त्रों की तो बात ही न पूछिये। दिन भ
भैरवी, पीलू, धमार! दिन भर साहित्या-लोचना, दिन भर हास्य-
विनोद! "चाय"—क्वेकर ओट!

भाई विभूतिनाथ ने इस उजाड़ को इन्द्र के अखाड़े का रूप दे
दिया है। यहीं डा० झा महोदय के ठहरने की बात थी। आज
जब मैं पहुँचा, तब समस्त कोठी में एक गम्भीर निस्तब्धता देखी।
चपरासी, अरदली, सभी यन्त्र की तरह चुप-चाप अपने-अपने कार्य

में संलग्न थे। भाई विभूतिनाथ का हरिण बरामदे में बैठा चुपचाप जुगाली कर रहा था। शरद् की सुनहली सन्ध्या वृक्षों की चोटियों को चूम रही थी। दूर-दूर तक फैले हुये खेतों पर अस्तप्राय दिवाकर की स्वर्णमयी विभा माया का जाल फैला रही थी। आकाश में इधर-उधर बादल उड़ रहे थे। बाग के वृक्षों पर बसेरा लेने वाले पक्षियों का आवागमन और कलरव प्रारम्भ हो गया था। सर्वत्र निस्तब्धता छायी हुई थी।

मैं थोड़ी देर में एक ऐसे कमरे के द्वार पर पहुँचा, जो कोठी के ऊपरले खंड पर था; खूब खुला हुआ था। मेरे साथ भाई विभूतिनाथ थे। इन्होंने कहा—"इसी में पिता जी हैं। चले जाओ।" जिस समय धड़कते हुए हृदय से भारत के मूर्तिमान् वृहस्पति के कमरे में प्रवेश किया था, उस समय अपने सामने मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के यशस्वी वाइस चांसलर तथा एक एम० ए०, डी० लिट्०, एल-एल० डी०, महामहोपाध्याय को नहीं पाया। मैंने देखा, भारत के गौरव-स्तम्भ एक वृद्ध तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण को, जो खाट पर बैठा कुछ लिख रहा था। चारों ओर पुस्तकों का ढेर लगा हुआ था और उसी के बीच छ आने की एक गंजी पहने और ऐनक लगाये एक वृद्ध सज्जन अपने आपको विसार कर बैठे हुए थे। सादगी भी एक गुण है, जो बड़प्पन को बढ़ाती और मानव-जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करती है। डा० झा के जीवन में सादगी को गौरवपूर्ण स्थान मिला है। मैंने आज तक जितने महापुरुषों के दर्शन किये हैं, उनमें से अधिकांश सादगी के नाम पर सादगी का मखौल उड़ाने वाले हैं। मैं देशबन्धु चितरञ्जन दास के उन दिनों की बातें याद करता हूँ, जब वे "गया कांग्रेस" में सभापति होकर पधारे थे। उस समय मुझे कई बार आपके चरणों में उपस्थित होने का गौरव

हुआ था। आप भी त्याग-मूर्ति माने जाते हैं और वस्तुतः आपका त्याग भी महान् था। इतना होते हुए भी आप एक "अमीर" थे। चपरासियों का दल और खूब तड़क-भड़क आपके लिये हँसी-खेल था। आप यद्यपि खद्दर की धोती पहनते थे; पर वह धोती २५) प्रति जोड़े से कम मूल्य की नहीं होती थी। आपके शरीर पर जो शाल थी, वह हजार से ऊपर की थी। जितने रुपयों में २४-२५ गरी के झोपड़े तैयार हो जाँय, उतने रुपयों का एक शाल ओढ़ने के मा हैं २४-२५ झोपड़ों को ओढ़ कर जीवन व्यतीत करना। देशबन्धु राजा थे, वे राज्य करने के निमित्त धरातल पर पधारे थे। उस "बंगाल रायल टाइगर" के सम्बन्ध में मेरा कुछ भी लिखना अक्षम्य अपराध होगा; पर सच्ची बात को न कहना भी तो अपराध है। पं० मोती-लाल जी नेहरू, जब गया पधारे थे, तब मैं भी आपकी सेवा में उपस्थित हुआ था। आप यहाँ कौंसिल के प्रोग्राम को लेकर स्वराज्य पार्टी के युग में आये थे। मैं कौंसिल का विरोधी था। नेहरू जी भी त्यागमूर्ति थे! इतना होते हुए भी आपकी रहन-सहन राजसी थी। आपका ख़र्च अपरिमित था तथा २५ घर की नन्ही-सी बस्ती के ग़रीब, जितने रुपयों में एक दिन दोनों जून, मज़े में, रोटी-दाल खा सकते हैं, उतना अकेले पंडितजी के आधे दिन का ख़र्च था। महात्मा गान्धी की सादगी के सिद्धान्तों पर अमल करने के माने हैं, तपस्वी जीवन व्यतीत करना। मैंने डा० झा को तपस्वी के रूप में देखा। महात्माजी के सिद्धान्तों का मर्म डा० झा महोदय ने अच्छी तरह समझ लिया है। आप एक "अमीर" श्रेणी के जीव हैं; पर अमीर नहीं। हाँ, आपके सुपुत्र पं० विभूतिनाथ जी (जो मेरे अभिन्न मित्र और गया के डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं) अवश्य अमीर शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। आपका ठाट अमीरी

है। पर डा० झा हम ग़रीबों के साथ पयाल पर बैठकर सुख-दुःख में हाथ बँटाने वाले पंडित हैं। आपकी महत्ता का सच्चा रूप आपकी सादगी तथा त्यागमय जीवन में झलकता है। डा० झा के भी नाक, कान, हाथ, मुँह आदि अवश्य उसी प्रकार के हैं, जैसे मेरे, परन्तु मुझ में और इनमें इतना अन्तर क्यों पड़ गया? यही बात डा० रवीन्द्रनाथ, महात्मा गान्धी, भगवान् तिलक आदि को देखकर मेरे हृदय में खलबली मच गयी थी। आज भी मैं इस महान् विद्वान् को एक साधारण मनुष्य की तरह हँसते, बोलते, खेलते देख रहा हूँ। "आप कैसे हैं?"—पुस्तक पर से दृष्टि हटाये हुये डा० झा ने मुझ से मुस्करा कर पूछा। इस समय मुझे याद नहीं कि, मैंने उन्हें इस स्नेहपूर्ण प्रश्न का क्या उत्तर दिया; पर यह मुझे अच्छी तरह याद है कि, भाई विभूतिनाथ उछलते-कूदते कमरे में पधारे। आप एक कुर्सी पर बैठ गये। चाय और अंगूर के दाने आये। डा० झा महोदय ने भी चाय पीना आरम्भ किया। आपने 'चाय' की प्याली खाली करते हुए कहा—"इसी विभू (विभूतिनाथ) ने मुझे चाय पीने की आदत लगा दी। मेरे परिवार में एक शोक-पूर्ण घटना हो गयी थी। मन बहलाने के लिये 'चाय' की प्यालियों का दौरा चला था। धीरे-धीरे चाय मेरे गले का हार बन गयी!" विभूतिनाथ खूब हँसे! मैं भी हँसा और डा० झा तो हम दोनों से भी अधिक हँसे!

डा० झा यद्यपि वृद्ध हैं, पर अभी तक उनके हृदय में लड़कपन की-सी चुलबुलाहट वर्तमान है। खूब जी खोल कर हँसते हैं, जरा भी बन-ठन कर नहीं बैठते। यही आपकी महत्ता का एक रहस्य है। सरलता की ओट में आत्मीयता की जैसी झलक मैंने डा० झा महोदय की बातों में पायी, वैसी अन्यत्र सुलभ नहीं है। कुछ ही

मिनटों में मैं मानों उसका पुराना सेवक-शिष्य बन गया ! वे मुझसे खूब हँस-हँस कर घराऊ बातें करने लगे। भाई विभूतिनाथ से वे प्रायः अपनी मैथिली भाषा में बातें करते थे। आप दोनों (पिता-पुत्र) जब अपनी मातृ भाषा में बातें करने लगते, तब-तब मेरा हृदय आनन्द-सागर में डूबने-उतराने लगता। सचमुच भाई विभूतिनाथ बड़े ही सौभाग्यशाली हैं; मुझे उनके भाग्य से ईर्ष्या है ! वे डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं। मुझे इसकी चिन्ता नहीं जो चोरी के अपराध में मुझे जेल भुगतना पड़े; पर यदि चुराने योग्य होता तो मैं निश्चय ही विभूतिनाथ के भाग्य चुरा लेता। भारत में ऐसे कितने युवक हैं, जिन्होंने मेरे विभूतिनाथ जैसा सौभाग्य प्राप्त किया है ? संध्या ने गोधूलि का रूप धारण किया। मैं विदा हुआ। विभूतिनाथ अपनी मोटर पर बैठा कर मुझे मेरे घर तक पहुँचा गये।

(३)

तीन दिन बाद ! भागलपुर के कालेज से पत्र आया। उन्हें कवि-सम्मेलन के लिये एक सभापति चाहिये था। मैं ही इस पद के लिये पसन्द किया गया ! यह मुझ जैसे बैठे-ठाले लोगों का ही काम है ! हां, यह भी सुना कि, डा० झा महोदय वहां के वार्षिकोत्सव के प्रधान बनाये गये हैं। मेरे आनन्द का ठिकाना न रहा। 'गया' से झा महोदय के साथ ही जाऊँगा। रास्ते में सेवा करने का अवसर मिलेगा। जूठन साफ करूँगा, धोती छाँट दूँगा, जूतों पर पालिश लगा दूँगा— यह करूँगा, वह करूँगा। इसी प्रकार की अनेक सुखद कल्पनाओं में डूबता-उतराता झा महोदय की सेवा में उपस्थित हुआ। पुस्तकों के ढेर में बैठे आप कुछ लिख रहे थे।

आज-कल के हम नवयुवकों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति एक दम ही नहीं है। हिन्दी के लेखकों में ऐसे दो-चार ही होंगे, जो अपना

समय स्वाध्याय को देते होंगे। दिन भर इधर-उधर टहलना, गप्पें मारना—बस यही आज-कल के हिन्दी लेखकों का 'स्वाध्याय' है। सम्पादकों के पत्रों से "तंग" (!) आकर कुछ लिख दिया। क्या इन्हीं देवताओं के बल पर हिन्दी राष्ट्रभाषा के सिंहासन की ओर दौड़ी चली जा रही है? सत्तर वर्ष की अवस्था में भी डा० झा महोदय समस्त दिन स्वाध्याय और मनन में लगाते हैं। स्वर्गीय पं० रामावतार शर्मा की सेवा में उपस्थित होने का मुझे असंख्य बार अवसर मिला है; पर मैंने उन्हें कभी बेकार ऊँघते नहीं देखा! मुझे याद है कि, एक बार शर्मा जी ने मुझसे कहा था कि—"भोजन तो मुँह से करते हो, आंखों से 'समाचार-पत्र' पढ़ो। यह "लिटरेचर" है। भोजन के समय ही इसका पढ़ा जाना उचित है!

शर्मा जी के महान् पाण्डित्य का रहस्य अब आया आपकी समझ में? भगवती सरस्वती की देहली पर जब इस प्रकार सिर पटका जाता है, तब माता वीणापाणि वर प्रदान करती हैं। सिगरेट, सिनेमा, मित्रों से धमा-चौकड़ी दूसरी बातें हैं!

हां, तो मैंने देखा कि डा० महोदय कुछ लिख रहे हैं। मैं दबे पैरों घर में घुसा। आप अपने कार्य में तन्मय बने रहे। मैं कुछ क्षणतक खड़ा रहा! बड़ी सी हरी "पार्कर पेन" तेजी से सादे काग़ज़ का मैदान पार कर रही थी! पृष्ठ पर पृष्ठ रँगे जा चुके थे। कब्र की चट्टान जैसी मोटी-मोटी असंख्य पुस्तकें इधर-उधर बिखरी हुई थीं। कुछ क्षण ठहर कर मैंने डा० महोदय के चरण छू लिये। आप चौंक उठे! मुझे देखते ही बच्चों की तरह स्वच्छन्दता-पूर्वक मुस्कुराकर बोले—"महतो जी!" इतने में "नसवार" की पुड़िया लिये विभूतिनाथ आ गये। आते ही आपने अपने पिता जी से कहा—"नसवार लीजिये।" डा० महोदय बोले—"नहीं, मैं नसवार नहीं लेता।" बाल-हठ ने जोर

पकड़ा। एम० ए० पास डिप्टी मजिस्ट्रेट बच्चा, महामहोपाध्याय ए०, डी० लिट्०, एल-एल० डी०, वाइस चांसलर पिता के स मचलने लगा! "नसवार" लेनी ही पड़ेगी। मुझे सर्दी हो गयी मैं "नसवार" लेता हूँ; आप क्यों नहीं लीजिएगा? डा० झा ने यत्न से अपने मचलते हुए बच्चे को समझाया। सचमुच मैं इस ह को देखकर अपनापन खो बैठा। कौन इस संसार को मिथ्या मायाज कहता है? क्या यह सत्य नहीं है? यदि संसार नहीं रहता, तो स मिथ्या का जन्म ही नहीं होता।

❀ ❀ ❀

संध्या हो चली थी। शरद की सुनहली सान्ध्य किरण हरे-भ खेतों पर फैली हुई थी। डा० झा के साथ मैं "बुद्ध गया" की ओ चला। स्वयम् विभूतिनाथ मोटर चला रहे थे। भगवान् की तपःस्थल शोभा का क्या कहना है! नदी के किनारे-किनारे सड़क गयी है। एक ओर नदी और उसके पूर्व कूल की हरी-भरी पहाड़ियों के पाद देश में बसी हुई नन्हीं बस्तियाँ। दूसरी ओर खेत! पहाड़ों का सिल-सिला तो और भी नयन-रञ्जक है। संध्या-समय प्रायः जन-हीन रहती है। सड़क की दोनों ओर वृक्षों की घनी कतारें हैं। वृक्षों की डालियाँ ऊपर जाकर मिल गयी हैं। तीर की सी सीधी सड़क कहीं-कहीं पत्तों की गुफा-सी दिखलाई पड़ती है। सामने से आती हुई बैलगाड़ी गुफा में से निकलती हुई सी जान पड़ती है। तीर की तरह गाड़ी इसी निर्जन पथ पर दौड़ रही थी। डा० झा चुपचाप बैठे थे। इसी समय भाई विभूतिनाथ के हृदय में लड़कपन ने जोर मारा। आपने मोटर की गति को ३५ से ५० मील कर दिया। डा० साहब हवा के मारे घबरा उठे! अपने राम के सिर की टोपी उड़ते-उड़ते बची! चश्मे पर इस कदर धूल जम गयी कि, उसे उतार कर साफ करना आवश्यक हो

गया। भाई विभूतिनाथ गाड़ी की गति को शायद और बढ़ाना चाहते थे। इसी समय डा० महोदय ने अत्यन्त प्रेम से उनका कंधा छू लिया। विभूतिनाथ ने खिलखिला कर हँस दिया और गाड़ी १५ की रफ़्तार से चलने लगी। तत्काल हम भगवान बुद्ध के विशाल मन्दिर के सम्मुख पहुँच गये। पश्चिमाकाश में संध्या की ललाई छा गई। संध्या के धूमिल आकाश में बुद्ध देव का मन्दिर तपोमग्न चुपचाप खड़ा था।

❀ ❀ ❀

जिस समय हम "बुद्ध गया" से लौट रहे थे, घड़ी ने ६॥ बजने की सूचना दी। सन्ध्या-वन्दन का समय हो गया था। अचानक डा० झा महोदय अत्यन्त गम्भीर हो उठे। आपने जूते उतार कर पालथी मार ली और सन्ध्या करना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर में आपने अपने सन्ध्या-वन्दन से छुट्टी पा ली। नियम की पाबन्दी इसका नाम है। मुझे याद है, एक बार सन्ध्या-समय महात्मा गांधी ने भी मोटर से उतर कर प्रार्थना की थी। कुछ विवेचकों का मत है कि, नियमों की पाबन्दी के माने हैं अपने को मानसिक गुलाम बना डालना; पर गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि, भारत क्या, संसार में जितने महापुरुष हो गये हैं, वे प्रायः सभी नियमों के पाबंद थे। उच्छृङ्खल जीवन मनुष्य को अधोगति की ओर ढकेल ले जाता है।

डा० झा में सरलता एक अद्भुत वस्तु है। आपका जीवन सदा गौरव और अच्छाइयों के पथ से गुजरा है। आप सदा विद्या और गौरव का अर्जन करते रहे। आजतक आपका लक्ष्य एक मात्र ज्ञानार्जन ही है। स्वाध्याय, मनन और लेखन ही आपका नित्य-कर्म है। यही तपस्या है। जो व्यक्ति सब से पहली बार डा० झा महोदय के दर्शन करेगा, उसे सब से पहले उनकी आंखों को देखकर चकित होना

पड़ेगा ! आंखों का धर्म ही है—चञ्चलता; पर डा० झा की आंखों ने अपने धर्म का त्याग कर दिया है। वे दो चमकीले हीरे की टुकड़ियों की तरह सदा स्थिर रहती हैं। अन्तर्मुखी दृष्टि इसी को कहते हैं।

डा० झा समय के बड़े पाबन्द हैं। स्वाध्याय आपका जीवन है। जब-जब मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ, तब तब आपको कुछ-न-कुछ लिखते या पढ़ते पाया। प्रथम दर्शन में मैंने देखा था कि, आप की आंखें स्वच्छ कांच के दो टुकड़ों की तरह स्थिर थीं। उनमें गति नहीं थी। ऐसी तन्मयता सर्वत्र नहीं देखी जाती मोटे-मोटे ग्रन्थों के के पेज पर पेज आप उलट रहे थे और उन पर मार्क लगा रहे थे—नोट कर रहे थे। देखते-देखते आपने पचासों पृष्ठ उलट डाले। इतना अध्ययनशील व्यक्ति मैंने पं० रामावतार शर्मा को छोड़कर तीसरा नहीं देखा। आप जर्मन विद्वान् जैसे हैं। जर्मन विद्वान् ग्रन्थ कीट होते हैं। कलकत्ते के एक पुस्तकालय में मैंने तीन जर्मन यात्रियों को पढ़ते देखा था। लाइब्रेरियन ने मुझे बतलाया कि, ये तीनों जर्मनी के किसी विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर हैं। यहाँ पुस्तकालय के खुलने के पाँच मिनट पहले आते हैं और बन्द होने की घंटी सुनकर कुर्सी छोड़ते हैं! नित्य ८-९ घंटे स्तकालय में पढ़ा करते हैं। इसके बाद मोटी-मोटी पुस्तकें डेरे पर ी ढोकर ले जाते हैं। क्या हिन्दी में है कोई इतना अध्ययनशील र्कि जो, १५-१६ घंटे नित्य लिखता या पढ़ता हो?

ये जर्मन अध्यापक भारतीय दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने भारत थे। "शान्ति निकेतन" में भी इन्हें मैंने पुस्तकालय की कुर्सी देखा। इनके पास मोटी-मोटी कापियाँ थीं और पाकेट में टेनपेन" थे। लगातार पढ़ते और नोट करते जाते थे। सैकड़ों

पृष्ठ लिखते और सैकड़ों पृष्ठ पढ़ते थे। उफ !

हिन्दी में ऐसा अध्ययनशील विद्वान विरला ही होगा। जहाँ दो-चार पंक्तियाँ जोड़ने का अभ्यास हुआ कि, "मिल्टन" "बायरन" के कान कतरने दौड़े ! दो पेज लिखने की अकल होते ही "शा" "मैथ्यू" "मैक्समूलर" की गरदनें नापने को उतारू हो जाते हैं ! मैं हिन्दी के कई ऐसे साहित्यिकों को जानता हूँ जिन्हें समस्त दिन आवारापन में रहना पसन्द है। ये हिन्दी के नामी कवि हैं, यशस्वी सम्पादक हैं, विख्यात कलाकार (?) हैं। कभी इनके सम्बन्ध में भी लिखूँगा। इन साहित्यिक आवारों से साहित्य का क्या उपकार हो सकता है ? वृद्ध होते हुए भी डा० झा एक महान् अध्ययनशील व्यक्ति हैं। इस वृद्धताजन्य रुग्णावस्था में भी १०–१२ घंटे नित्य स्वाध्याय और मनन में आप व्यय करते हैं। स्वाध्याय और मनन के साथ ही आप लिखते भी जाते हैं। आप की सम्पादित तथा लिखित पुस्तकों के पढ़ने से इस बात का प्रमाण मिलता है। कागज पर आप की "पार्करपेन" जिस तेजी से निरन्तर दौड़ती रहती है, वह मेरे जैसे अकर्मण्य लेखक के लिये आश्चर्य की बात है। मैं यत्न करके भी नित्य ६–७ घंटे से अधिक स्वाध्याय नहीं कर सकता। मैं एक स्वस्थ नौजवान हूँ, तिसपर भी इतनी कमजोरी ! छिः ! डा० झा एक वृद्ध तथा अस्वस्थ मनुष्य हैं। आपका परिश्रम आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। डा० झा के गम्भीर ज्ञान का यही रहस्य है।

स्व० पं० रामावतार शर्मा भी हम युवकों के लिये आदर्श थे। आप एक प्रचण्ड मेधावी तथा चूड़ान्त अध्ययनशील थे। डा० झा में भी यही गुण है। सच्ची विद्वत्ता स्वाध्याय में है। बिना स्वाध्याय और मनन के एम० ए०, बी० ए० पास कर लेना विडम्बना मात्र है। मैं कई ऐसे बी० ए० तथा एम० ए० पास व्यक्तियों को जानता हूँ

जो सिर से पैर तक अपढ़ कहे जा सकते है ! यद्यपि मेरा यह 'रिमा
अप्रिय है; पर उन ग्रेजुएटों ने अपने समस्त समय को आवारापन
नष्ट कर दिया है; और, केवल बी० ए० की पाठ्य पुस्तकों को ही
ज्ञान-निधि समझ कर सन्तोप कर लिया है। डा० झा का विशाल
पाण्डित्य तथा प्रखर प्रतिभा का प्रकाश उनके स्वाध्याय पर ही निर्भर
करता है।

एक बार मैं पटना विश्व-विद्यालय की "हिन्दी लिटरेरी सोसाइटी"
में भाषण देने के लिये बुलाया गया था। वहाँ मुझे "पोस्ट ग्रेजुए
होस्टल" में ठहरने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ के भावी एम० ए०
के विद्यार्थियों को देखकर आज भी मुझे रोना आता है। समस्त दिन
इधर-उधर दौड़ना तथा अकथनीय उपद्रवों में समय व्यतीत करना
इनका काम है। ये नहीं समझते कि इनके अभिभावक जो धन इनके
लिये व्यय करते हैं, वह किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। एक
विद्यार्थी की मेज पर मैंने अरविन्द की एक पुस्तक देखी। पुस्तक
का नाम था "एसे आन गीता।" इस पुस्तक की प्रशंसा मैंने पं०
रामावतार शर्मा के श्री मुख से सुनी थी। मुझे इस बात की बड़ी
प्रसन्नता हुई कि, यहाँ के विद्यार्थी ऐसे गम्भीर ग्रन्थ का अध्ययन करते
हैं; पर तत्काल ही मेरी प्रसन्नता विषाद के रूप में परिणत हो गयी,
जब मैंने उस विद्यार्थी से सुना कि, "दर्शन-शास्त्र के विद्यार्थी को यहाँ
परले सिरे का मूर्ख और गदाई समझा जाता है। यह पुस्तक उसके
किसी मित्र की है। वह यहाँ न जाने क्यों छोड़ गया।"

हमारे भावी तिलकों, गांधियों, सप्रुओं, गंगानाथों और रामावतारों
की यही दशा है ! परमात्मा भारत की लाज रखे। डा० झा स्वाध्याय
को मानव-जीवन का एक महत्वपूर्ण अङ्ग समझते हैं। वे सतत
स्वाध्याय और मनन में लिप्त रहना चाहते हैं। इस महापण्डित का

स्वर्ग पुस्तकों के पृष्ठों में है, इस महान् मेधावी का सुख इसकी लेखनी की नोक में केन्द्रित है, डा० गंगानाथ झा न केवल एक विद्वान् पुरुष हैं, अत्यन्त भावुक भी हैं। आपकी भावुकता आपके प्रत्येक शब्द से टपकती है। आपका हृदय अत्यन्त कोमल है। आप कई विद्वान् तथा यशस्वी पुत्रों के सौभाग्य-शाली पिता हैं। आपका समस्त परिवार सरस्वती का अनन्त उपासक तथा सहृदय है।

जब मैं पहली बार डा० झा के चरणों में उपस्थित हुआ, उस समय मैंने उन्हें किसी गम्भीर चिन्ता में पाया। मैं दो-चार क्षण उनके निकट ठहर कर कमरे से बाहर निकल आया। मैंने सोचा डा० झा का यह समय अमूल्य है। सम्भव है, इसी समय भारतीय साहित्य को कोई अमूल्य निधि मिलने वाली हो—शायद मेरे कारण कुछ व्याघात उत्पन्न हो जाय।

कोर्ट से लौट कर बाहर भाई विभूतिनाथ अपना सूट उतार रहे थे। मेरा इस प्रकार टल जाना वे भाँप गये। आपने डा० झा से अपनी "मैथिली भाषा" में हँसते हुए कुछ कहा। डा० झा बच्चों की तरह खिल-खिलाकर हँसने लगे! मैं भी हँस पड़ा। झा महोदय ने मुझे उसी स्वर में पुकारा, जिस स्वर में कोई पिता अपने बच्चे को पुकारता है। आप के स्वर से छलकता हुआ प्रेम प्रकट होता था।

डा० झा कला को व्यवहार की दृष्टि से देखते हैं। जब मैं आप के साथ "बुद्ध-गया" से लौट रहा था, उस समय मोटर पर मैंने आप से 'कला' के सम्बन्ध में कुछ पूछा। आपने स्वाभाविक मुस्कराहट के साथ मेरे प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया। आपके विचार में 'कला' व्यवहारवाद या उपयोगितावाद के भीतर है। 'कला' के लिये 'कला' कहने वालों से आपका मत नहीं मिलता। आप 'कला' को आनन्द का परिणाम मानते हैं। डा० झा के कला-सम्बन्धी विचारों

का पूर्ण विवेचन मैं किसी खास लेख में करूँगा। यदि मैं यहाँ उ
पर पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न करूं, तो लेख का कलेवर
अकारण बढ़ जायगा।

एक घटना का वर्णन करूँगा, तब मेरे मन को शान्ति मिलेगी।
जिस समय डा० झा यहाँ (गया) थे, उसी समय भागलपुर के
विश्व-विद्यालय ने अपना वार्षिकोत्सव मनाना उचित समझा। डा०
झा को विद्यालय के अधिकारियों ने अपने उत्सव का प्रधान चुना। इस
शुभ अवसर पर एक कवि सम्मेलन की योजना भी की गयी। इसके
लिये उन्होंने मेरा नाम लिया। जब डा० झा को यह समाचार मिला,
तब आप बड़े प्रसन्न हुए और मुझ से बोले कि, "चलो दो, तीन दिन
तुम्हारा साथ रहेगा।" सचमुच मेरे लिये यह स्वर्ण सुयोग था; पर
बुरा हो उस गृहस्थी का, जिसके चलते मैं इस सुख से सदा के लिये
वञ्चित हो गया।

मुझे खेद है कि, मैं किसी निजी कार्य के झमेले में फँसकर भागल-
पुर नहीं जा सका। यह कचट जीवन भर रहेगी, अवश्य रहेगी। क्या
ऐसा अवसर बार-बार मिलता है?

अब मैं दो शब्द अपने बिहारी साहित्य-सेवियों से कहना चाहता
हूँ। मैं कहूँगा कि, हम डा० झा का सम्मान करें। मौखिक सम्मान
नहीं; एक सुन्दर अभिनन्दन-ग्रन्थ हम अपने इस मूर्त्तिमान वृहस्पति
के चरणों में अर्पित करें। अब और अवसर नहीं है। अभागे और
कृतघ्न बिहार ने रामावतार शर्मा जैसे महारथी को खो दिया! हम
एक बाजी हार चुके। अब दूसरी ओर ध्यान दें। क्या रामावतार
और गंगानाथ एक युग में सौ पचास बार आते हैं? इतने-इतने बड़े
दो साहित्य-महारथियों को अपनी गोद में पाल-पोसकर बिहार की
आज पुत्रवती कही जा सकती है।

शरत् बाबू

(१)

आवारापन तो मुझे लड़कपन से पसन्द है, किन्तु अफ़सोस के साथ लिखना पड़ता है कि इसका सक्रिय लुत्फ़ उठाना भाग्य में बदा न था। शरत् बाबू के उपन्यासों ने, ख़ास तौर से "श्रीकान्त" और "चरित्र-हीन" ने मुझे बहुत ही उकसाया, पर रवीन्द्रनाथ के अमर गीतों ने मेरे मन को एक प्रकार से अपने सुर के जाल में इस क़दर बाँध रक्खा था कि अब तक मैं निन्यानवे के फेर से अपने को अलग नहीं कर सका हूँ। शरत्चन्द्र की कमनीय कला का परिचय मुझे पाँच-छः साल पहले हुआ—यौवन के मध्याह्न-काल में। प्रभात की रंगीनियाँ चमकती हुई धूप में मिलकर अपनी श्री खो चुकी हैं, आवारापन हो तो कैसे। यह भी एक कला है और कला प्राप्त होती है अभ्यास से—आवारापन का अभ्यास करने का समय व्यतीत हो चुका। केवल इसकी मनोरमता के विषय में सोच सकता हूँ—इसे कार्य रूप में परिणत करने के दिन लद चुके—इसका मुझे दुःख है। यही इस लम्बी कहानी की भूमिका है। पाठक क्षमा करें।

डॉ० हेमचन्द्र जोशी डी० लिट्० का नाम अदब से लेता हूँ। आपका जीवन—विदेशों में भ्रमण करने वाला जीवन—आवारापन का एक लुभावना नमूना है। जब मैं कलकत्ते पहुँचा तो डॉक्टर साहब की सेवा में भी उपस्थित हुआ। दो-तीन साल पहले की बात है। जीवन के उलट-फेर के हिसाब से ये दो-तीन साल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे; पर अपने राम संसार में जीवन-सागर की उत्ताल तरंगों का हिसाब रखने यहाँ नहीं आये हैं। प्रवाह का नाम है अविच्छिन्न

गति से आगे बढ़े और तरंगों का काम है उछल-उछल कर, जल
भिन्न, अपनी सत्ता का—अपने नाम, रूप का—क्षणिक परिचय
आकाश की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई माप कर महल बनाने वाल
में हमारे जैसे लेखकों की गणना करना सरस्वती के कमल-वन मे
सिंघाड़े पैदा करना है। मैं इन बातों से दूर रहता हूँ; पर जब ख़ुद
दूरी खिसक कर मुझसे लिपट जाती है तो फिर कोई चारा नहीं रहता।

मेरे आग्रह पर डाक्टर हेमचन्द्र ने अपनी चाय की प्यारी प्याली
को मेज़ पर रखकर टेलीफ़ोन के रिसीवर की ओर हाथ बढ़ाया। मैं
शरत् बाबू के दर्शन करना चाहता था। उत्तर आया—"वे अपने
देहात वाले घर में चले गये हैं।" एक मिनट में सारा नाटक समाप्त
हो गया। गर्मी के दिन थे और कलकत्ता-जैसा स्थान! कोई भी श
बाबू-जैसा कलाकार वहाँ ऐसी ऋतु में रहना कब पसन्द कर सकत
है—रात-दिन होहल्ला, उस पर पुरवा हवा! मुझे तो ऐसा लगत
था कि मानों किसी ने मेरे सारे शरीर में शहद मल दिया हो। दिन
भर में तीन-तीन बार स्नान करने पर भी मन न भरे। कपड़े पहन
कर होटल से बाहर निकलना एक दंड था। यदि मित्र बुरा न मानते
तो मैं निश्चय ही लँगोट लगाकर ही कलकत्ते की वाहियात गर्मी का
स्वागत करता। ऐसी बुरी गर्मी—उफ़!!! मैं धीरे-धीरे शरत् बाबू
बात भूल गया। 'सिनेमा' और 'ईडेन-गार्डेन' ने मुझे भुला दिया
एक-एक मिनट कर के एक सप्ताह समाप्त हो गया। सचमुच मानव
भी कितना विस्मृतिशील होता है!

(२)

कलकत्ते में यदि "ईडेन-गार्डेन" नाम का विशाल पार्क न होता
तो मुझे विश्वास है कि धर्मराज जिन प्राणियों को नरक-भोग का दंड
देते हैं, उन्हें सीधे कलकत्ता भेज देते। अपने यहाँ के "कुम्भीपाक"

आदि महकमों को वे निश्चय ही तोड़ देते। जिस पुण्यात्मा ने उस "पार्क" की कल्पना की थी, उसने निश्चय ही कलकत्ता-निवासियों या प्रवासियों का बड़ा उपकार किया है।

वैशाख का महीना था। आग उगलते सूर्य, क्षितिज का कलेजा फाड़कर, निकलते थे। ऐसा लगता था कि रात के बाद ही दोपहरी शुरू हो जाती है। लाल चमकते हुए दिवाकर की पहली किरण खून में लिपटी हुई बर्छी की तरह धरित्री की छाती में घुस जाती थी। मैं तो कलकत्ते में प्रभात देखने के लिए छटपटा उठा था। पहाड़-जैसे ऊँचे-ऊँचे भद्दे मकानों के ऊपर उठते-उठते भगवान् भास्कर काफ़ी तप्त हो जाते थे। मेरे होटल की खिड़कियों के सामने वे तब पहुँचते, जब उनमें से "विसूवियस" की ज्वालाएँ भड़कने लगतीं! मैं खूब सुबह उठकर, उस समय ट्राम न मिलने के कारण, टैक्सी की सहायता से "ईडेन-गार्डेन" पहुँच जाता। घने वृक्षों की गहरी छाया में—हरी दूब पर—लेटकर अपने खोये हुए बचपन को प्यार से पुकारता, अपने यौवन की पहली झलक को आँखें बन्द करके—हृदय पर हाथ रखकर-देखता और अपने गत जीवन की सुखद स्मृतियों को चुपके से बुलाकर मन ही मन चूम लेता। धीरे-धीरे प्रभात की विभा चमकीली होती और वृक्षों की छाया छोटी होने लगती—मानों धूप से बचने के लिए, अपने प्रियतम (वृक्ष) की गोद में छिपने के विचार से, धीरे-धीरे खिसकने लगती। यहीं पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के दर्शन भी यदा-कदा सुलभ हो जाते थे। एक दिन अचानक मेरी आँखें एक ऐसी सौम्य मूर्ति से टकरा गईं, जो एक घने वृक्ष के नीचे बैठी थी—सामने झील में अपने अमल धवल डैने फड़फड़ाकर कुछ राजहंस तैर रहे थे और तट से एक छोटी-सी नौका बँधी धीरे-धीरे हिल रही थी। तट मानों अपने आलिंगन में धारा को जकड़ लेना चाहता था, पर वह इठलाती

गति से आगे बढ़े और तरंगों का काम है उछल-उछल कर, जल
भिन्न, अपनी सत्ता का—अपने नाम, रूप का—क्षणिक परिचय
आकाश की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई माप कर महल बनाने वाल
में हमारे जैसे लेखकों की गणना करना सरस्वती के कमल-वन में
सिंघाड़े पैदा करना है। मैं इन बातों से दूर रहता हूँ; पर जब ख़ुद
दूरी खिसक कर मुझसे लिपट जाती है तो फिर कोई चारा नहीं रहता।

मेरे आग्रह पर डाक्टर हेमचन्द्र ने अपनी चाय की प्यारी प्याली
को मेज़ पर रखकर टेलीफ़ोन के रिसीवर की ओर हाथ बढ़ाया। मैं
शरत् बाबू के दर्शन करना चाहता था। उत्तर आया—"वे अपने
देहात वाले घर में चले गये हैं।" एक मिनट में सारा नाटक समाप्त
हो गया। गर्मी के दिन थे और कलकत्ता-जैसा स्थान! कोई भी शरत्
बाबू-जैसा कलाकार वहाँ ऐसी ऋतु में रहना कब पसन्द कर सकता
है—रात-दिन होहल्ला, उस पर पुरवा हवा! मुझे तो ऐसा लगता
था कि मानों किसी ने मेरे सारे शरीर में शहद मल दिया हो। दिन
भर में तीन-तीन बार स्नान करने पर भी मन न भरे। कपड़े पहन
कर होटल से बाहर निकलना एक दंड था। यदि मित्र बुरा न मानते
तो मैं निश्चय ही लँगोट लगाकर ही कलकत्ते की वाहियात गर्मी का
स्वागत करता। ऐसी बुरी गर्मी—उफ़ !!! मैं धीरे-धीरे शरत् बाबू की
ात भूल गया। 'सिनेमा' और 'ईडेन-गार्डेन' ने मुझे भुला दिया।
क-एक मिनट कर के एक सप्ताह समाप्त हो गया। सचमुच मानव
कितना विस्मृतिशील होता है!

(२)

कलकत्ते में यदि "ईडेन-गार्डेन" नाम का विशाल पार्क न होता
झे विश्वास है कि धर्मराज जिन प्राणियों को नरक-भोग का दंड
ं, उन्हें सीधे कलकत्ता भेज देते। अपने यहाँ के "कुम्भीपाक"

आदि महकमों को वे निश्चय ही तोड़ देते। जिस पुण्यात्मा ने उस "पार्क" की कल्पना की थी, उसने निश्चय ही कलकत्ता-निवासियों या प्रवासियों का बड़ा उपकार किया है।

बैशाख का महीना था। आग उगलते सूर्य, क्षितिज का कलेजा फाड़कर, निकलते थे। ऐसा लगता था कि रात के बाद ही दोपहरी शुरू हो जाती है। लाल चमकते हुए दिवाकर की पहली किरण खून में लिपटी हुई बर्छी की तरह धरित्री की छाती में घुस जाती थी। मैं तो कलकत्ते में प्रभात देखने के लिए छटपटा उठा था। पहाड़-जैसे ऊँचे-ऊँचे भद्दे मकानों के ऊपर उठते-उठते भगवान् भास्कर काफ़ी तप्त हो जाते थे। मेरे होटल की खिड़कियों के सामने वे तब पहुँचते, जब उनमें से "विसूवियस" की ज्वालाएँ भड़कने लगतीं! मैं खूब सुबह उठकर, उस समय ट्राम न मिलने के कारण, टैक्सी की सहायता से "ईडेन-गार्डेन" पहुँच जाता। घने वृक्षों की गहरी छाया में—हरी दूब पर—लेटकर अपने खोये हुए बचपन को प्यार से पुकारता, अपने यौवन की पहली झलक को आँखें बन्द करके—हृदय पर हाथ रखकर-देखता और अपने गत जीवन की सुखद स्मृतियों को चुपके से बुलाकर मन ही मन चूम लेता। धीरे-धीरे प्रभात की विभा चमकीली होती और वृक्षों की छाया छोटी होने लगती—मानों धूप से बचने के लिए, अपने प्रियतम (वृक्ष) की गोद में छिपने के विचार से, धीरे-धीरे खिसकने लगती। यहीं पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के दर्शन भी यदा-कदा सुलभ हो जाते थे। एक दिन अचानक मेरी आँखें एक ऐसी सौम्य मूर्ति से टकरा गईं, जो एक घने वृक्ष के नीचे बैठी थी—सामने झील में अपने अमल धवल डैने फड़फड़ाकर कुछ राजहंस तैर रहे थे और तट से एक छोटी-सी नौका बँधी धीरे-धीरे हिल रही थी। तट मानों अपने आलिंगन में धारा को जकड़ लेना चाहता था, पर वह इठलाती

बलखाती हुई आगे बढ़ रही थी। जिस व्यक्ति को मैंने देखा, उसकी
देह पर खद्दर का साफ़ कुर्त्ता था। खद्दर की धोती और चादर। ि
पर लम्बे-लम्बे पर श्वेत बाल थे, दाढ़ी-मूछें साफ़—चमकदार आँ
के ऊपर गाढ़ी भ्रू-रेखाएं। मैंने अचानक इस रूप में न केवल बंगाल
के, बल्कि भारतीय साहित्य के अपराजित महारथी शरत्चन्द्र को
देखा। मैं कुछ दूर बैठ गया। यद्यपि शरीर के हिसाब से हम १५-२०
गज़ की दूरी पर थे, पर मैंने अनुभव किया कि हम एक दूसरे से असंख्या-
संख्य मीलों के फ़ासले पर हैं—कहाँ अमर कलाकार शरत्चन्द्र और
कहाँ मैं—सिन्धु और बिन्दु! सन्तोष का विषय यही था कि सिन्
और बिन्दु में नाम-रूप-आकार का भेद है, पर तत्व की गहराई में
पहुँचने पर दोनों की एकरूपता स्पष्ट हो जाती है—इसी का नाम है
दार्शनिक सन्तोष, जो अभागों को फाँसी लगाकर या धड़धड़ाती हुई
"बाम्बे-मेल" से कटकर जान देने से बचाता है।

शरत् बाबू एक टक जल की ओर देख रहे थे, और मैं शरत् बाबू
की ओर। ठंडी हवा चल रही थी—वृक्षों की सघन श्यामल पत्तियों में।
ूर पर पीली पगड़ी बाँधे कुछ मारवाड़ी भाई बैठे थे। फाटके की चर्चा
ड़ी हुई थी, किसी वस्तु के भाव पर बहसें हो रही थीं, "शेयर-मार्केट"
उतार-चढ़ाव पर चिल्ला-चिल्लाकर अपनी अपनी सम्मति दी जा रही
। ग़रज़ यह कि एक हंगामा-सा मचा रक्खा था उन व्यापारी
इयों ने।

धीरे-धीरे 'गार्डेन' की पतली सड़कें धूप से चमकने लगीं। कोमल
र धूप पड़ने से एक विशेष प्रकार की भाप-सी निकलकर वायुमण्ड
रम करने लगी। देखते-देखते बाग़ ख़ाली हो गया, सर्वत्र सन्नाट
गया।

स दिन के पहले भी मैंने शरत् बाबू को एक बार देखा था!

(३)

मैं मानता हूँ कि चञ्चलता अच्छी नहीं होती, पर लड़कपन अच्छा होता है। यदि जीवन भर लड़कपन के भाव हृदय में बने रहें तो संसार का कटु अनुभव बहुत ही कम मात्रा में हो। जिस तरह 'मिर्गी' का दौरा होता है, उसी तरह बीच-बीच में जिन व्यक्तियों पर बचपन का दौरा हो जाता है, उन्हीं अभागों में से एक मैं भी हूँ। इस दौरे के कारण कभी-कभी मुझे मुसीबतों का सामना भी करना पड़ता है, पर अपना दिमाग़ कुछ ऐसा अनुभवशून्य बन गया है, अपना हृदय कुछ ऐसे ढङ्ग का भावुकताहीन बन चुका है कि सुख-दुःख की सर्दी-गर्मी का उतना प्रभाव ही नहीं पड़ता, जितना पड़ना उचित है। अचानक इसी लड़कपन का दौरा उस दिन हुआ, जब मैं 'ईडेन-गार्डेन' से लौटा। होटल में पहुँचते ही शरत् बाबू को फ़ोन किया। उत्तर आया—

"तुम कौन हो जी ?"

मैंने स्वर को अत्यन्त नरम बनाकर कहा—"होइहै कोउ इक दास तुम्हारा।"

किसी ने कहा—"अच्छी बात है, संध्या समय आ सकते हो।"

यदि मेरे पास कोई ऐसा यन्त्र होता, जो 'फ़ोन' से आनेवाले शब्दों को ज्यों का त्यों सस्वर ग्रहण कर लेता, तो मुझे सन्तोष होता। 'फ़ोन' पर शरत् बाबू बोल रहे थे या कौन था, पता नहीं, पर आवाज़ में बड़ी गुर्राहट थी—कहाँ बालीगंज और कहाँ हरिसन रोड, इतनी दूरी पर रहते हुए भी मेरा हृदय धड़क उठा। मैंने मन ही मन यह मान लिया कि शरत् बाबू इतनी बेसुरी आवाज में कभी बोल नहीं सकते। यह अपने जीवन से, रोग या बुढ़ापे के कारण, किसी ऊबे हुए मनुष्य की आवाज है, जो प्रत्येक क्षण झल्लाई हुई हालत में ही रहता होगा। उस दिन के पहले मुझे यह क़तई विश्वास नहीं था कि वंगभाषा में

और ख़ास तौर से कोई बंगाली 'फ़ोन' पर ऐसी गम्भीर गर्जना कर
सकता है। मैंने मान लिया कि संसार में सभी कुछ सम्भव है। काँ
हुये हाथ से 'रिसीवर' रखकर नये सिरे से सोचना आरम्भ किया कि
शरत् बाबू के यहाँ जाना उचित होगा या नहीं। वे महान हैं और
अपने राम महीनों से मन ही मन डरते हैं—उनका समय बहुमूल्य
होता है, बातें बहुमूल्य होती हैं, यहाँ तक कि उनके घर की सीढ़ियां
घर से भी अधिक बहुमूल्य होती हैं। इस 'बहुमूल्य' की झड़ी में 'मूल्य
हीन' का पड़ जाना विशेष आनन्द या उत्साह का विषय नहीं कहा जा
सकता। जिस गुर्राहट को मैंने सुना था, वह मेरे कानों में दुर्भाग्य व
गर्जना की तरह संध्या तक गूँजती रही। मैं मन ही मन पछताय
भी कि क्यों अकारण 'फ़ोन' से छेड़छाड़ करने गया। यह लड़कपन
मेरे लिए मँहगा जान पड़ा।

शरत् बाबू एक शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। अधिक भीड़भाड़ उन्हें
पसन्द न थी। जिस कमरे में मैं बैठाया गया, वह साफ़-सुथरा था और
उस कमरे की सजावट भी इतनी स्वल्प थी कि वहाँ का वातावरण ही
शान्त हो गया था। बालीगंज के एक शान्त कोने में उनका घर था।
खुली हुई खिड़कियों से संध्या का हल्का लाल प्रकाश भीतर आ रह
ा। एक बड़ी-सी आराम-कुर्सी पर कुछ थके-से शरत् बाबू चुपचाप
े थे और मैं कुछ दूर पर बैठा था। कमरे की दीवार पर लटकने
ली घड़ी का व्याकुल 'टिक-टिक' शब्द वातावरण में हल्की-हल्की
रियाँ पैदा कर रहा था। पुस्तकों से भरी हुई कुछ आलमारियाँ थीं
मेज़ पर मासिक पत्रिकाओं का एक ढेर-सा पड़ा था—कुछ अँग-
पुस्तकें भी नज़र आईं। एक उदास चुप्पी में समय व्यतीत करते
री पलकें भारी हो गईं—आलस्य का अनुभव होने लगा। मैंने
शरत् बाबू अपने मेहमानों को यह बुरी सज़ा देते हैं। असह-

योग की भयानकता का कटु अनुभव मुझे तब तक होता रहा, जब तक उन्होंने जँभाई लेकर उठने का उपक्रम नहीं किया।

कुर्सी से उठते हुए वे बोले—"भाई, अब लिखा नहीं जाता। जी चाहता है कि हिमालय की तराई में जाकर चुपचाप कालिदास का 'मेघदूत' या 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' पढ़ा करूँ।"

एक बार की घटना है—डॉ० जायसवाल ने कहीं से लामाओं-जैसी पोशाक ख़रीदी। मैंने जब इस विचित्र परिच्छद का रहस्य पूछा तो शुद्ध मिर्ज़ापुरी भाषा में उत्तर मिला—"संन्यास लेब।" ऊँचा टोपा, विचित्र पाजामा, भद्दा-सा अँगरखा—संन्यास लेने के लिए ऐसी पोशाक की ज़रूरत तो नहीं होती। लँगोटी, कमंडलु आदि के स्थान पर इन विचित्र वस्तुओं को देखकर मैं चकित हुआ तो जायसवाल साहब अत्यन्त सकरुण स्वर में कहने लगे—"बेटा, मन ऊब उठा है संसार की धींगा-धींगी से। हिमालय की तराई में रहने का विचार है। वहीं एक कुटिया बनाकर रहूँगा इत्यादि।" मैं बोला—"यह कोई दिलचस्प 'प्लान' नहीं है। प्रयाग के त्रिवेणी तट पर धूनी रमाइए और मैं बनूँ आपका 'चेला', फिर देखिए सोना-चाँदी की कैसी वर्षा होती है। इहलोक सुधारने ही से आपसे आप परलोक सुधर जाता है। यह तो आप जानते ही होंगे कि बिना 'नक़द नारायण' के अनुग्रह से इहलोक खटाई में पड़ा रह जायगा।" बच्चों की तरह खिलखिलाकर जायसवाल साहब कमरे में चले गये और संन्यास का झोंक भी समाप्त हो गया। एक बार मैंने उन विचित्र कपड़ों को पहनने की हिम्मत की थी।

जायसवाल साहब महान थे, शरत बाबू महान् थे। इन महानों का संन्यास छोटे-मोटे पहाड़ों की तराई में बसने से पूरा नहीं हो सकता था। महान् पर्वतराज की तराई ही इनके लिए उपयुक्त जगह है।

महान् तुच्छ की बात सोच भी कैसे सकता है। शरत् बाबू की बातों ने मुझे हँसा दिया। हँसते देखकर वे भी मुस्करा उठे और बोले—"तुम हँसे क्यों?"

मैंने उन्हें जायसवाल साहब के संन्यासवाली बात सुना दी तो दिल खोलकर हँसे और कहने लगे—'भाई, वे बड़े हैं। उनकी बा भी बड़ी-बड़ी होती हैं। मैं तो सचमुच संसार से ऊब उठा हूँ। यहा मेरा अपना कोई है भी तो नहीं। मेरे उपन्यास के पात्र ही मेरे बन्धु-बान्धव हैं, सखा मित्र हैं, अपने हैं। कल्पनाजगत् की इन मूर्तियों से मैं अपना दिल बहलाता हूँ.......।"

मैंने देखा, बोलते-बोलते उनका मुख गम्भीर हो उठा, आँखें चमक उठीं और होंठ काँपने लगे, स्वर अत्यन्त धीमा हो गया। कुछ उत्तेजित-से हो उठे।

सूर्यास्त हो चुका था। दिन की अन्तिम विभा उनके प्रशान्त मुखमण्डल को मानो धीरे-धीरे चूम रही थी। शान्त वातावरण में संध्या की शान्ति ने विषाद की उदासी भर दी थी। इतने बड़े महान् कलाकार के मन की व्याकुलता को प्रत्यक्ष रूप में देखकर मेरा हृदय कराह उठा। अपने उपन्यासों में जो शरत्चन्द्र फूल की तरह खिले हुए दिखलाई पड़ते हैं, अपने कल्पना गगन में जो शरत्चन्द्र आनन्
की विभा फैलाते हुए जान पड़ते हैं, उन्हीं शरतचन्द्र को मैंने मानवरू
ं कितना कातर देखा। शरत्चन्द्र महान् होते हुए भी मनुष्य थे और
नुष्य होने के कारण मानवीय कमज़ोरियाँ उन्हें भी यदा कदा विकल
डालती थीं—"देह धरे कर यह फल भाई। मानव यों तो एक
ा-कांक्षी जीव है—प्राणी है पर जो इतने झंझट नज़र आ रहे हैं,
ा पिता भी तो मानव ही है। मकड़ी तो अपने जाल में दूसरों को
ती है, पर हम ऐसे अजीबोग़रीब दिमाग़ के प्राणी हैं, जो अपने

उन्होंने कहा—"चाय पी सकते हो? कोई परहेज तो नहीं है? तुम 'सोयाबीन' खानेवालों में से तो नहीं हो?" वे मुस्कराये। मैंने अदब से उत्तर दिया—"परहेज़? आपका आज्ञापालन करना मेरे लिए धर्म होगा। मैं 'सोयाबीन' नहीं खाता।"

चाय आई और फिर इधर-उधर की बातों में हम बड़े मज़े में लिप्त हो गये। देखते-देखते खुली खिड़कियों से रात ने झाँककर देखा। मैंने जाने की आज्ञा माँगी तो कहने लगे—"अभी तो कलकत्ते में रहना होगा? फिर कब आते हो?"

मैंने प्रणाम करके निवेदन किया—"जी हाँ, अभी तो एकाध मास रहूँगा। जब आज्ञा हो दर्शन करूँ।" "तो कल? कल चले आना। मैं तुम्हें सिनेमा दिखलाने ले चलूँगा"—शरत् बाबू बच्चों की तरह प्रसन्न होकर बोले—"बँगला चित्र देखा है तुमने?"

मैंने कहा—"जी हाँ, पर क्षमा किया जाय तो मैं कहूंगा कि मुझे अँगरेज़ी चित्रों की तुलना में वे कुछ अनोने-से लगे। शायद मैं बँगला नहीं समझ सकता।"

मैं झूठ नहीं बोलूँगा। अँगरेज़ी का नाम मैंने जान बूझकर लिया। मैं हिन्दी का नाम ले रहा था, पर मुझे भय था कि कहीं शरत् बाबू हिन्दी के विषय में कुछ आलोचना न कर बैठें। सच्ची बात तो यह है कि हिन्दी के मुक़ाबले में मुझे बँगला चित्र अच्छे नहीं लगते। मैं यहाँ पर अपनी इस सम्मति के समर्थन में तर्क या उदाहरण पेश नहीं करूँगा, पर इतना अवश्य कहूँगा कि रुचिभिन्नता भी एक बहुत बड़ी चीज़ होती है।

घड़ी ने सात बजने की सूचना दी। मैं विदा हुआ।

(४)

शरत् बाबू एक साधारण क़द के, छरहरे बदन के व्यक्ति थे।

चेहरा लम्बा तथा आँखें चमकदार थीं। उनका स्वास्थ्य प्रायः ख़राब रहा करता था—अफ़ीम और तम्बाकू, बस इन दो बुरी चीज़ों ने उन्हें अपना कैदी बना लिया था। अफ़ीम के नशे में झूमते हुए हुक्के की निगाली को मुँह से लगाकर शरत् बाबू तन्द्रा में अपना समय व्यतीत करते थे। प्रकृति में आलस्य की अधिकता थी, पर क़लम लेकर जब मेज़ के सामने बैठते तो उनका सारा आलस्य न जाने कहाँ काफ़ूर हो जाता। कल्पना और मानव-मनोविज्ञान की गहनता में उतरना शरत् बाबू के लिए उतना ही आसान काम था, जितना हमारे लिए एक प्याला चाय का गले के नीचे उतार लेना। मैं इस विषय पर अधिक खोदखाद करना नहीं चाहता; क्योंकि शरत्चन्द्र का यश या अपयश मेरी क़लम का मोहताज नहीं। साहित्य-संसार जानता है कि शरत्चन्द्र क्या थे या क्या हैं।

फिर भी मैंने निकट से उन्हें एक लापरवाह मनुष्य की तरह देखा। न तो गुरुदेव की-सी भावुकता उनमें पाई और न हिन्दी के महाकवियों (!) की-सी शान! शरत् बाबू ने मुझसे कहा था कि—"एक बात का मुझे बड़ा दुःख है। लोग मुझे हर घड़ी 'कलाकार शरत्चन्द्र' के ही रूप में देखा करते हैं। कलाकार शरत्चन्द्र तो कल्पना के स्वर्ग में रहता है और वह उसी समय धरातल पर आता है, जब उसे कुछ देना होता है। आत्मदान करके वह 'महान् शरत्चन्द्र' चला जाता है और मैं केवल रह जाता हूँ 'शरत् चटर्जी!' इस अभागे शरत् चटर्जी को तुम लोग 'कलाकार शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय' समझकर आदर करने लगते हो। मैं धर्म-संकट में फँस जाता हूँ। मैं महान्ता के दुर्वह भार को चौबीसों घंटे वहन करने में असमर्थ हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे सर्वसाधारण के साथ बैठने दिया जाय, सर्वसाधारण से हँसने दिया जाय, बोलने दिया जाय;

पर तुम लोगों ने ही मुझे मानो जातिच्युत-सा कर दिया है। मैं तो हौआ सा बन गया हूँ—तुम नहीं समझते, मेरे प्राण कितने विकल होते हैं इस 'सम्मान-पूर्ण असहयोग' से।"

बात सही है या ग़लत, पर उन्होंने कहा ऐसे जोश के साथ कि मैं प्रभावित हुए बिना न रहा। मुझे तो ऐसा लगा कि मेरे सामने शरत्‌चन्द्र की आत्मा कराह कर अपना इज़हार कर रही है। क्या जिस तरह असम्मान परिताप का कारण है, उसी तरह अत्यधिक सम्मान भी गले की फाँसी बन जाता है? सचमुच मानव क्या चाहता है, क्या नहीं चाहता, इसकी एक निश्चित सीमा निर्धारित करना कठिन है। एक ही बात रुचिभिन्नता के कारण दो जगह दो प्रकार के प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। "कहीं बैंगन बादी और पथ्य"—वाली बात बावन तोले पाव रत्ती सही है।

मुझे याद है कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने अपनी नाइट (Sir) की उपाधि से अपना पिंड छुड़ाते हुए सरकार को लिखा था कि "यह उपाधि मुझे सर्वसाधारण से अलग रखती है"—इसी तरह की कोई बात कवि ने लिख कर 'सर' की उपाधि को सरकार के क़दमों में सौंप दिया। भीतरी बात चाहे जो भी रही हो, पर कवि ने जो कुछ लिखा था वह सकारण बात है। हम आत्म-लाभ तभी कर सकते हैं, जब समस्त के साथ अपने व्यक्तित्व को एकाकार कर देते हैं। पृथक्त्व में सूनापन है, अकेलापन है। आत्मदान और आत्मलाभ का कोई सवाल ही एकाकीपन में पैदा नहीं होता। जब तक हम आत्म-दान और आत्मलाभ नहीं कर सकते, तब तक जीवन का चरम सौन्दर्य स्पष्ट नहीं हो सकता। बिना सौन्दर्य के जीवन क्या है, एक भद्दी-सी विडम्बना मात्र है। शरत्‌चन्द्र यह अनुभव करते थे कि महान् होकर वे सूनापन की दशा में पहुँच गये हैं। एक संवेदनशील

हृदय यह कब बर्दाश्त कर सकता है कि संसार के एक कोने में पड़ा-पड़ा वह चुपचाप धड़का करे। वह तो अनन्त विश्व में तदाकार होने के लिए निश्चय ही तड़पेगा। शरत्चन्द्र के पात्रों में से कोई भी इस प्रकृति का नहीं है। वे सभी आदर्शवाद के संभव-निम्नतर-स्तर पर उतर कर अपने जीवन की रंगीनियाँ बिखेरते हैं। शरत्चन्द्र की कल्पना के मानव उनकी रुचि के प्रतीक हैं, न कि विधाता के द्वारा पृथ्वी पर ढकेल कर भेजे हुए मनुष्य, जिन्हें चाहे कोई पसन्द न भी करे, पर जब तक मौत उन्हें धक्के मार कर संसार के रंगमंच से नहीं खदेड़ती, तब तक वे अपनी गर्हित उपस्थिति से दूसरों को चिढ़ाते और उबाते रहने को लाचार हैं। शरत्चन्द्र के कल्पना-संसार के सभी पात्र भिन्न-भिन्न रूप में शरत्चन्द्र के अपने-से हैं। यदि शरत्-चन्द्र उन्हें पसन्द न करते तो वे कभी उनके उपन्यासों में बलपूर्वक घुस जाने की हिम्मत ही न कर सकते।

इन्हीं बातों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि एकान्त में बैठ कर 'कुंडलिनी'-जगाने वालों में शरत्चन्द्र नहीं थे, पर उनकी कीर्ति ने उन्हें एक प्रकार से 'समस्त' से अलग करके एक कोने में क़ैद कर दिया था। इच्छा करते हुए भी उनके लिए सम्भव नहीं था कि वे समाज के औसत दर्जे के सदस्यों के साथ अपनापन स्थापित कर सकते थे। समाज के जिस धरातल पर के सदस्यों को उन्होंने अपने उपन्यासों में स्थान दिया है, उस धरातल पर ख़ुद शरत् बाबू उतरने के लिए व्याकुल थे: पर आगे बढ़ जाने के कारण पीछे लौटने के जितने द्वार थे उनके लिए वे बन्द हो चुके थे। शरत्चन्द्र अपनी कीर्ति से ऊब उठे थे। वे दामन झाड़ कर कीर्ति से दूर-दूर रहना चाहते थे, पर वह ऐसे सत्पात्र को छोड़ कर जाय तो कहां। वह पंजे झाड़ कर उनके पीछे पड़ी थी। दोनों में आंखमिचौनी हो रही थी।

(५)

हिन्दी के विषय में हमारे बंगाली भाइयों में विशेष मतभेद नहीं है। कवीन्द्र से लेकर हमारे यहां के मिठाई बेचने वाले मुचीराम बनर्जी तक एक राय रखते हैं; पर शरत् बाबू के विचार कुछ विचित्र प्रकार के थे। वे स्वतन्त्र विचारों के प्रति उदार भाव रखते थे।

'विक्टोरिया-मेमोरियल' के मर्मरगठित शान्त आंगन में घूमते हुए—एक मनोरम संध्या को—शरत् बाबू ने कहा कि "तुम लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए इतना चीख़-पुकार मचा रहे हो, पर क्या तुम्हें यह मालूम नहीं है कि सत्य से कितनी दूर तुम्हारा यह कारवां चला गया है। केवल प्रोपोगंडा से काम नहीं चलेगा। मैं बिहार में रह चुका हूँ, जो तुम्हारा प्यारा प्रान्त है और मैं हिन्दी जानता भी हूँ, पढ़ सकता हूँ, समझ सकता हूँ, पर अभ्यास न रहने के कारण लिख नहीं सकता। मैं देखता हूँ कि तुम हिन्दी के हिमायती इसका प्रचार करना तो चाहते हो, पर इसे अलंकृत करना नहीं चाहते। क्या मैं ग़लत विचार रखता हूँ?" उन्होंने मेरी ओर मुड़ कर पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ कहा। मैं उनके इस 'रिमार्क' पर चौंका। डर रहा था कि कहीं हमारा मतभेद न हो जाय, जिससे मैं बचना चाहता था। मैं जान-बूझ कर हिन्दी का प्रश्न उनके सामने पेश करने में झिझकता था। मुझे विश्वास था कि यह एक ऐसा प्रश्न है, जिससे एक बिहारी का मत बंगाली से मिल ही नहीं सकता। लाचार मैंने निवेदन किया—"ज़रा अपने इस मत की आप ख़ुद व्याख्या कर दें तो मैं कृतज्ञ होऊँ?"

"तात्पर्य यह है कि—" शरत् बाबू बोले—"तुम अपने साहित्य की ओर से उदासीन हो या तुम्हारे कलाकारों के हौसले पस्त हो चुके हैं। साहित्यिक दृष्टि से क्या तुम कह सकते हो कि तुम्हारी हिन्दी

किस अनुपात से आगे बढ़ रही है ?"

यह प्रश्न बड़ा ही जटिल था। बगलें झाँकने लगा। मूल प्रश्न को टाल देने की ओर मेरी प्रवृत्ति देख कर शरत् बाबू ने हठ पकड़ा। फिर अपनी बात को दुहराते हुए कहने लगे—"किसी साहित्य के लिए केवल यही विशेषता संतोषदायक नहीं कही जा सकती कि उसमें प्रतिवर्ष हज़ारों या लाखों की संख्या में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। कागज की मँहगी बढ़ाने के लिए ताबड़तोड़ पुस्तकों का छपते जाना कोई उल्लास का विषय नहीं है। इससे काग़ज़ के व्यापारी भले ही प्रसन्न हों, पर एक साहित्य-समीक्षक तो पुस्तकों में से स्थायी चीज़ खोजेगा और वह यदि निराश हुआ तो उसे यह कहने का हक़ है कि यह व्यर्थ का जंजाल है।"

मैंने पूछा—"क्या आप हिन्दी-साहित्य की पूरी जानकरी रखते हैं ? आप किस आधार पर अपनी इस सम्मति की असलियत को क़ायम रखने का प्रयत्न कर रहे हैं ?"

चलते-चलते शरत् बाबू सहसा खड़े हो गये और मेरी ओर मुड़-कर बोले—"क्या मैं ग़लत राय क़ायम करने का अपराधी हूँ ? तुम कह सकते हो कि मैंने ऐसी राय क़ायम करने में हिन्दी के प्रति संकु-चित दृष्टिकोण को काम में लाया है ?" "नहीं"—मैंने ज़ोर देकर कहा—"नहीं श्रीमान्, आपकी राय ग़लत नहीं कही जा सकती, पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने किस आधार पर अपने मत को क़ायम किया है।"

"मैं समझता हूँ"—शरत् बाबू अपनी छड़ी से अपने जूते को धीरे-धीरे खटखटाते हुए बोले—"हाँ, पंडितजी, मैं समझता हूँ कि हिन्दी के धनीधोरी कुछ उदासीन-से हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनकी कल्पना, लिखने की उमंगें और सजीव साहित्य सृजन करने की

प्रगति-मूलक क्षमता सभी चीज़ें खप चुकी हैं। अब उनके सामने कोई कार्य-क्रम नहीं रह गया—वे थके-से, ऊबे से, अनमने-से हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और बीच-बीच में तन्द्रा से चौंक कर चिल्ला उठते हैं—"हम जीवित हैं, हमें मत भूलो।" केवल अपनी भौतिक हस्ती का परिचय देते रहना ही किसी सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य नहीं होना चाहिए। यह बड़ी भद्दी बात है।"

मैंने कहा—"तो क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा न हो?"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया—"आप चाहते क्या हैं? हिन्दी को राष्ट्रभाषा या विश्वभाषा बनाना ही अपना परम धर्म आपने मान लिया है या उसे अलंकृत करने की ज़रूरत भी महसूस करते हैं? प्रचार के बल पर आप इसे राष्ट्रभाषा बना डालें, पर श्रेष्ठ साहित्य के अभाव से यह अपने पद पर कब तक आसीन रह सकेगी? पुराने साहित्य को बाद दे देने से आपके पास जो थोड़ी-बहुत सम्पत्ति बच जाती है, वह इतनी क़ीमती नहीं है, जिसके बल पर कोई ऊँचे दर्जे का 'प्लान' आप बना सकते हों।

मैं हैरान था कि एक पुराने हिन्दी-साहित्यकार की तरह किस आधार पर वे बोल रहे हैं। क्या यह बात सही नहीं है कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य की असलियत का पता बड़े ही अच्छे ढंग से लगाया है?

संध्या हो गई थी। अब हम "विक्टोरिया-मेमोरियल" के हरे-भरे मैदान में धीरे-धीरे टहल रहे थे। अस्तंगत दिवाकर की सुनहली किरणें "मेमोरियल" के अमल-धवल कंगूरों पर बिखर रही थीं। हवा में फूलों की भीनी-भीनी महक भरी थी और छिड़काव हो जाने के कारण दिन भर की धूप से तपी हुई ज़मीन से सोंधी महक भी निकल रही थी।

चुपचाप हम बहुत देर तक इधर-उधर घूमते रहे। शरत् बाबू में

एक विशेषता थी कि वे बोलते-बोलते अचानक चुप हो जाते थे और गम्भीर चिन्ता में ऐसे निमग्न हो जाते थे, मानों वे शरीर से तो हैं, पर उनका 'मन' जो स्वयम् संकल्प-विकल्पों की हलचलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अपनी हस्ती खो चुका है। संकल्प-विकल्पों के उत्थानपतन को समाप्त कर देने ही से मन का अन्त हो जाता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध कर देना ही मन की समाप्ति के लिए काफ़ी है। सो शरत् बाबू ठीक इसी स्थिति में पहुँच जाते थे। इधर लगातार कई बार उनकी सेवा में उपस्थित होने के कारण मैं उनसे कुछ-कुछ परिचित हो गया था, इसीलिए इस चुप्पी से मुझे तनिक भी असुविधा नहीं होती थी।

(६)

किसने मेरे कमरे का दरवाज़ा खटखटाया ?

मैं अभी-अभी सिनेमा देखकर लौटा था। कपड़े उतारकर लेटने की चेष्टा कर रहा था। इस समय का यह 'खटखट' मुझे बहुत ही बुरा लगा। मैं चुप रहा, पर फिर 'खटखट' शुरू हुआ। यह पहले से कुछ धीरे-धीरे था—दरवाज़ा खटखटानेवाला संकोचभाव से दस्तक दे रहा था। लाचार मैंने पूछा—"कौन है ?"

उत्तर मिला—"मैं हूं—मैनेजर !" मैंने दरवाज़ा खोल दिया।

मैनेजर ने कहा—"ज़रा 'फ़ोन' पर चलिए। कोई आपको बुला रहा है।" मैं चौंका—इस ग्यारह बजे रात को अचानक कौन 'मूड' में आ गया। किसी अनिद्रारोग के रोगी की यह हरकत है। यह तो गहरी नींद में सोने का समय है। इस समय 'फ़ोन' से छेड़ख़ानी करना पल्ले सिरे की अरसिकता है। लाचार मैं फ़ोन पर पहुँचा तो मुझे तत्काल मालूम हो गया कि शरत् बाबू हैं। कह रहे थे कि कल संध्या को यहीं चाय पीना। कुछ कलाकारों से तुम्हारी मुलाक़ात कराऊँगा। नोट कर

भूल मत जाता। वे मुझे चार बजे संध्या को बुला रहे थे, पर उस समय मुझे 'केशवराम-काटन-मिल' में जाकर भाषण देना था। वहाँ के कार्यकर्ताओं को मैंने वचन दे दिया था। वहाँ के एक पाठशाला के उत्सव में भी भाग लेना था। मेरी प्रार्थना करने पर दोपहर का समय ठीक हुआ। मैं सो गया—बस!

× × ×

शरत् बाबू के विषय में बंगाल में दो रायें हैं, दो भिन्न-भिन्न प्रकार की सम्मतियाँ रखनेवाले दो दल बंगाल में मौजूद हैं। कुछ लोग उन्हें समाज के लिए घातक समझते हैं और कुछ आवश्यक! शरत् बाबू स्वयम् अपने को कुछ भी नहीं समझते थे। उन्हें अपने विषय में सोचने की आदत ही नहीं थी। जीवन-नौका को मुक्त प्रवाह में छोड़कर आप निश्चिन्त हो चुके थे। हवा, प्रवाह उसे जिस घाट पर लगा दे या अतल जल में निमग्न कर दे, इस ओर से उदासीन रहते हुए शरत् बाबू अफ़ीम खाकर झूमा करते थे। जब तबीयत में उमंग आई, लिखने लगे। समाज के सामने उपदेशक बनकर आना उन्हें मंज़ूर न था। चित्रकार की तरह जो कुछ नज़रों के सामने आया, उसी का चित्र खींचकर सामने रख देना उनका काम रहा। वे केवल इतना ही सोचते थे कि उनके आँके हुए चित्र सत्य के ख़ूब निकट हैं या नहीं—असंभवता से दूर हैं या नहीं। उन्होंने मुझसे कई बार कहा कि—"यह क्या ज़ुल्म है, हम लिखते हैं, जिस विषय को उपस्थित करते हैं, उसकी पूर्णता पर ध्यान न देकर तुम विषय की अच्छाई बुराई को लेकर धींगाधींगी शुरू कर देते हो। मान लो कि मैंने एक गधे का वर्णन किया है तो तुम यह देखने का प्रयत्न करो कि मैंने उस गधे का सम्पूर्ण चित्र तुम्हारे सामने उपस्थित कर दिया है कि नहीं। तुम यह तो देखते नहीं और गुरु की तरह गम्भीर होकर

कहने लगते हो कि—छिः-छिः शरत् ने गधे को अपने वर्णन का विषय बनाया। उसे हमारी 'कपिला गऊ' का वर्णन करना चाहिये था, जिसके रोम-रोम में छप्पन कोटि देवताओं का निवास है।"

बड़े ही खिन्न हृदय से शरत् बाबू ने इन बातों को कहा। मैंने उनके हृदय की बेकली महसूस की। शरत् बाबू-जैसा एक महान् कलाकार भी न्यायभिक्षा के लिए कातर हो सकता है, यह एक आश्चर्य की बात है। मैं बोला—"आप तो लोकरुचि पर विजय प्राप्त कर सकते हैं और प्राप्त कर भी चुके हैं, फिर इन मामूली बातों पर ध्यान ही क्यों देते हैं। कहने दीजिए लोगों को, इससे आपका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। समर्थन और विरोध तो दोनों एक ही दिमाग़ से पैदा हुए हैं, अतएव सहोदर भाई हैं,। इन्हें एक दूसरे से जुदा किया ही नहीं जा सकता। समर्थन के साथ विरोध और विरोध के साथ समर्थन का रहना आवश्यक है।"

"तुम ठीक कह रहे हो"—अत्यन्त सरलतापूर्वक शरत् बाबू बोले—"पर मन पर सभी अच्छी-बुरी बातों की छाया पड़ती ही है।"

मैंने निवेदन किया—"आप लोग लोकरुचि का निर्माण करने वाले हैं, लोकरुचि ने आप-जैसे कलाकरों को जन्म नहीं दिया। फिर चिन्ता किस बात की है। आपकी विश्वविश्रुत लेखनी ख़ुद अपने लिए मैदान साफ़ कर लेगी। आलोचकों की बातों पर ध्यान देकर एक दिन भी जीवन धारण नहीं किया जा सकता। उन्हें भौंकने दें, वे दया के पात्र हैं, ईसा के शब्दों में कहें तो यही कहना पड़ेगा कि—

Father, forgive them, for they know not what they do.

शरत् बाबू ने हँसते हुए चाय की प्याली उठाई।

दिन का अन्त हो चुका था। ऊँचे-ऊँचे मकानों की छतों पर से धूप ग़ायब हो रही थी। मैंने जब कल्पना की आँखों से देखा कि

समय 'ईडेन-गार्डेन' में निसर्ग का सौन्दर्य कैसा निखरा होगा तो मेरा हृदय तड़प उठा। 'गया' पहाड़ियों से घिरा हुआ है। प्रकृति की इस लीलाभूमि में मेरा लालन-पालन हुआ। कलकत्ते-जैसे जनाकीर्ण स्थान में साँस लेने के लिए काफ़ी हवा का भी अभाव मुझे जान पड़ता था। मैं एकाएक ऊब उठा। मेरा मन गया की शान्त भूमि की ओर मुझे खींचने लगा।

एक रात को जब मैं होटल में लौटा तो मुझे ऐसा लगा कि कमरे की दीवारें चारों ओर से सिकुड़ रही हैं, नीचे की ज़मीन ऊपर उठ रही है और ऊपर की छत नीचे दब रही है। बीच में मैं इस तरह दब गया हूँ कि साँस लेना भी कठिन हो रहा है। मैंने अपनी इस मनोदशा पर कुछ क्षण ठहरकर ग़ौर किया, पर किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा। होटल का बिल देकर तुरन्त स्टेशन की ओर चला। धोबी के यहाँ कुछ कपड़े थे, जो उसी के यहाँ रह गये। अब मेरे लिए आध घंटा ठहरना भी कठिन था। मैं सीधे पटना पहुँचा और वहाँ से हिमालय देखने के लिए दार्जिलिङ्ग पहुँचा, मैंने अघाकर महीनों के बाद साँस ली। अब शरत् बाबू संसार में नहीं रहे! यह कोई आश्चर्य या दुःख की बात नहीं है—किसी न किसी दिन तो उन्हें जाना ही था। कल न जाकर आज ही चले गये तो क्या हुआ! हम अपने सुख के लिए, लाभ के लिए, रोते हैं!
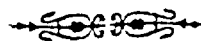
महापंडित राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन

(१)

बेसुरे हारमोनियम पर अपनी अनभ्यस्त अँगुलियों को फेरते हुए आर्यसमाज के पण्डाल में लम्बी चुटिया धारी अधेड़ उपदेशकजी ने अष्टम स्वर में गाया—

—"दयानन्द जी ने भारत जगाय दिया है
दयानन्द जी ने, हाँ हाँ दयानन्द जी ने
हो हो दयानन्द जी ने, आहा दयानन्द जी ने !
भारत जगाय दिया है, दयानन्द जी ने।
वेदों का झंडा उड़ाय दिया है, दया०।"

मेरे कन्धे पर मीठी थपकी देकर मिस एलिस ने कहा—"यही है तुम्हारा भारतीय संगीत !"

इस चुभते हुए तीर ने मुझे तड़पा दिया। जी में तो आया कि, पूस की इस ठण्ढी रात को भी मेघ-मल्लार की एक सच्ची तान मार-कर सर्वत्र जलप्लावन कर दूँ और इस अल्हड़ युवती को दिखला दूँ कि, "देख, इसी का नाम है भारतीय संगीत !" पर अपने राम में इतनी क्षमता कहाँ, जो तानसेन और बैजू बावरा के मुँह की लाली रख लेता। इधर तो मिस एलिस की चुटकियों ने मेरे कलेजे को मसल रखा था, उधर आर्यसमाज के उपदेशक-प्रवर संगीत-शास्त्र के कोमल कमलवन पर एकाग्र चित्त से "रोलर" चला रहे थे ! देखते-देखते घड़ी ने १० बजने की सूचना दी।

आज से बहुत दिन पहले की बात है। गया में राष्ट्रीय-महासभा की चहल-पहल थी। देश-देश के कर्मवीर, प्रस्ताववीर और उप-

वीर पधारे थे। वाग्वीरों का तो कहना ही क्या! कोई सड़क के किनारे खड़ा स्वतन्त्रता के सन्देशामृत का छिड़काव कर रहा है, तो कोई इक्केवान और मोटर-ड्राइवरों को साम्यवाद का मूल्यवान् तथ्य समझा रहा है। स्थान-स्थान पर सभा और जगह-जगह राष्ट्रीय सिंहनाद! सिंहनादों के मारे कान के परदे ढीले पड़ गये थे! जिसे देखिये, वही मेज़िनी, लेनिन बना हुआ है!

फल्गु के जलहीन तट पर राष्ट्रीय महासभा के नाम पर जिस अभिनव स्वर्ग की सृष्टि की गयी थी, वह अनुपम थी। प्रत्येक घण्टे पर एकाध विशाल नेता और प्रत्येक ३० मिनट पर एकाध प्रांतीय सरदार के पधारने की चहल-पहल अवश्य दिखलायी पड़ती थी। यह पण्डित मोतीलाल जी की राजसी मोटर आयी, तो वह देशबन्धु दास की रोल्सरायस आयी। इधर से पंजाब के सिक्ख वीरों के सेना-नायक तलवार बाँधे पधारे, तो उधर से आन्ध्र के श्रीमान् टेल्लुवडेवट्टैय्या की सवारी आयी। छोटे-मोटे औसत दर्जे के नेताओं की संख्या तो अपरिमित थी। लाखों की भीड़ पूरे एक सप्ताह तक भगवान् बुद्ध की प्रशान्त तपोभूमि में इकट्ठी होकर तीस-पैंतिस करोड़ आशा-भाषा-हीन अपमानविदग्ध क़ैदियों की बेड़ियों के काटने के उपायों पर वाग्युद्ध करती रही! हम गया के निवासियों के लिये यह बात अनुपम थी!

मैं उन दिनों अपना समस्त समय राष्ट्रीय सप्ताह में लगाता था। मैं जिस घटना की चर्चा ऊपर कर चुका हूँ, उसका सम्बन्ध भी राष्ट्रीय सप्ताह से ही है। कांग्रेस के विशाल पंडाल के ठीक सामने ही हमारे आर्यसमाजी बन्धुओं ने एक विशाल, पर बिलकुल खुला हुआ, शामियाना तान रखा था, जिसमें एक साथ ५० हज़ार श्रोता बैठ सकते थे। श्रोताओं को मन लगने के अनेक बहाने यहाँ मिल जाते

थे। रात-दिन हारमोनियम पर भजन और व्याख्यान हुआ करते थे तथा ऐसी सभाओं का सालाना जलसा भी यहीं सम्पन्न होता था, जिन्हें दूसरी जगह नहीं मिलती थी। आर्यसमाज का सभा-भवन सच्चे अर्थों में सार्वजनिक कहा जा सकता है, जिसके भीतर जाने में न तो रोक थी और न बैठने में दिक्कत ही। मैं अपनी संगिनी मिस एलिस के साथ आर्यसमाज के शामियाने के नीचे खड़ा था। पूस की रात थी और १० बजने का समय रहा होगा।

मैं भारतीय संगीत का "क ख" भी नहीं जानता और मिस एलिस थी संगीत-कला की एक पुतली। उसने मेरी बोलती बन्द कर दी। मैं एक प्रकार से पूरी तरह हार गया। इसी समय उपदेशक जी ने हारमोनियम को विश्राम दिया। हारमोनियम की आवाज़ बन्द होते ही एक दूसरे उपदेशक जी सभामंच पर आये।

बहुत दिनों की बात है; पर आज भी मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस उपदेशक ने सभामंच पर पदार्पण किया था, वे लम्बे दिव्य गौरवर्ण के थे। विशाल शरीर में एक लम्बा लबादा लपेटे हुए थे, जो काले कम्बल का था। उपदेशकजी का मुखमण्डल खूब प्रभापूर्ण था, ललाट की चमक भी आकर्षक थी। मिस एलिस ने कहा—"यह देखो, कितनी दिव्य मूर्त्ति है। इसके चेहरे से ही यह स्पष्ट हो रहा है कि इसके हृदय में रत्नों का ख़ज़ाना छिपा हुआ है।" मैं आँखें भर कर व्याख्याता को देख रहा था। इसी समय एक सज्जन मेरे निकट पधारे। मिस एलिस के गौरवर्ण ने सभा-व्यवस्थापक का ध्यान इस ओर खींचा। आपने आते ही कहा—"उस तरफ़ चलिये, यहाँ क्यों खड़े हैं!" हम तो यह चाहते ही थे। सीधे मंच की ओर लपके। मंच पर जिस समय हम चढ़ रहे थे, उस समय हज़ारों जोड़ी आँखों ने हमारी बलैया ली। काले और गोरी की यह जोड़ी सब की आँखों की ऐसी

किरकिरी बन गयी कि किसी को दूसरी ओर मन लगाना कठिन हो रहा !

अब हम व्याख्याता के अत्यन्त निकट थे। पहले तो अपनी पूरी ऊँचाई में तनकर व्याख्याता खड़ा हो गया। फिर धीरे-धीरे आँखें बन्द करके उसने सिर झुका लिया। उसके होठ कुछ हिलने लगे और कुछ अस्पष्ट-सी, पर झङ्कार-युक्त, वाणी निकलने लगी! तत्काल मानों नींद से चौंककर उसने अपना सिर उठाया और "समुपस्थित सज्जन-समूह" कहकर अपने व्याख्यान को आरम्भ किया। पहले स्वर कुछ मन्द था, फिर क्रमशः उच्च होता गया। भाषण का विषय था—"आध्यात्मिक स्वतन्त्रता।" कोई दो घण्टे तक हम मन्त्रमुग्ध की तरह व्याख्याता के विद्वत्ता-पूर्ण भाषण को सुनते रहे। ऐसा सुन्दर तथा सर्वाङ्गपूर्ण भाषण इधर बहुत दिनों से सुनने में नहीं आया था। मिस एलिस भी, जो हिन्दी का साधारण ज्ञान रखती थीं, इस भाषण को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुईं। व्याख्यान समाप्त हुआ; पर इच्छा की तृप्ति नहीं हुई। अब हमें व्याख्याता के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करने की चिन्ता हुई। पता लगाया, तो मालूम हुआ कि आप एक सन्यासी हैं, नाम है—बाबा रामोदार दास।

रामोदार बाबा हमारी आलोचना के विषय बन गये और हम नित्य इस धुन में रहने लगे कि आज आप कहाँ बोलते हैं। आपके शान्त गम्भीर मुख तथा बोलने की रीति से आपकी असाधारणता प्रकट होती थी। हम मन ही मन आपके भक्त बन बैठे। प्रयत्न करके भी आपसे नहीं मिल सके। मिस एलिस तो आपके दर्शनों की दीवानी सी बन गयी। उस विदेशिनी युवती का दिल आपने इस सफ़ाई से छीन लिया लिया कि मैं मन ही मन बाबाजी से जलने लगा!

देखते-देखते राष्ट्रीय सप्ताह समाप्त हो गया। जहाँ पर स्वर्ग जैसी

दोपहर को—अर्थात् वैशाख के एक दोपहर को—जब मैं बड़े यत्न से अपने आपको एक ठण्ढी जगह में छिपाकर निश्चित हो गया था, मेरे आदरणीय मित्र पं० बजरंगदत्तजी शर्म्मा छाता ताने पधारे। पण्डितजी एक सजीव राजनीतिज्ञ हैं। आप "सजीव शब्द" पर न चौंकें! मैं ऐसे मनुष्यों को मुरदों से भी गया बीता समझता हूँ, जिनके जीवन कोई हलचल नहीं है। देश के अन्न को अन्याय-पूर्वक खाकर अकार बहुत दिनों तक जीवित रहनेवाले मेरी दृष्टि में देश या समाज कुष्ठग्रस्त अङ्ग हैं, जिनमें कीड़े पड़ने को बाक़ी हैं। मेरे विचार से शर्म्माजी न केवल एक सजीव राजनीतिज्ञ हैं, बल्कि आप सच्चे अर्थों में मनुष्य भी हैं।

हाँ, तो छाता ताने तपे हुए तवे की तरह लाल मुँह लिये शर्म्माजी पधारे। आते ही आपने फ़रमान जारी किया—"चलो, अभी चलो, तुम्हें एक कमिटी के सामने बयान देना होगा।" मैं तो अवाक् रह गया! शर्म्माजी ने प्याले में तूफ़ान उठा दिया! "धोती लाओ" "कुरता लाओ," "जूते ठीक करो," "गाड़ी बुलाओ" की ख़ासी धूम मच गयी। मेरे दो-चार सहयोगी (अर्थात् नौकर) इस तूफ़ान में तिनके की तरह उड़ चले। स्वयम् मैं इतना घबरा गया था कि पण्डितजी को प्रणाम करना भी भूल गया। जल्दी के मारे धुले हुए खद्दर के कुरते पर मैलीसी टोपी लगा ली और चप्पल की जगह प स्लीपर पहनकर चलने को उद्यत हो गया। रास्ते में इस व्याकुलता से ागा कि कई बार पथिकों से क्षमायाचना करने की नौबत आ गयी! ागता हुआ गाड़ीख़ाने के निकट पहुँचा, तो पण्डितजी से मैंने हाँफते ए कहा कि—"हज़रत, गाड़ीवान को भी कहीं ठौर ठिकाना बत- इयेगा या यह छायावादियों की अनन्त और निरुद्देश्य यात्रा ी!"

हमारा दल एक ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ बिहाररत्न राजेन्द्र बाबू तथा दो एक और सज्जन, जजों की तरह, मेज़ के सामने बैठकर लोगों के बयान ले रहे थे। मैं भी एक काष्ठासनपर बैठकर मन-ही-मन शर्म्मा जी को कोसने लगा। थोड़ी देर के बाद देखता क्या हूँ कि गैरिक वस्त्रों से आच्छादित बाबा रामोदार कमरे के परदे को हटाकर बाहर निकल रहे हैं। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा!

बात यह थी कि "बुद्ध-गया" को लेकर हिन्दुओं और बौद्धों में सस्नेह तनातनी चल रही थी। बौद्धों का दावा था कि गया का विख्यात बुद्ध-मन्दिर एकमात्र बौद्धों के अधिकार में रहे, इधर हमारे हिन्दू-भाई भगवान् बुद्ध पर अपना अधिकार क़ायम रखना चाहते थे। महासभा ने इस मामले को अपने हाथ में लिया तथा राजेन्द्र बाबू और शायद ब्रजकिशोर बाबू पंच बनाये गये। इसी पंचायत के सामने मैं बयान देने के लिये धर घसीटा गया। यह तो हुआ, पर बाबा रामोदार यहाँ किस निमित्त आये, यह जानना बाक़ी रहा। अन्त में जब बाबा रामोदार मुझसे वकीलों की तरह अन्धाधुन्ध जिरह करने लगे, तब मुझे पता लगा कि आप भी बौद्ध हैं। मुझे इस बात का दुःख है कि मैं बाबा रामोदार के विरुद्ध बयान देकर यह सिद्ध कर रहा था कि भगवान् बुद्ध न केवल बौद्धों के ही सर्वेसर्वा हैं; पर हम हिन्दुओं के भी देवता हैं। उस समय मैं बौद्धों को हिन्दू नहीं मानता था। हम हिन्दू बुद्धदेव को ईश्वर के अवतारों में मानते हैं; पर उनके द्वारा प्रचलित धर्म के माननेवालों को अहिन्दू समझते हैं। मैं इस ग़लतफ़हमी का आदि कारण जानने का इच्छुक हूँ। बाबा रामोदार ने लगभग एक घण्टे तक जिरह करके मुझे एक प्रकार से थका लिया था; पर मैं अपनी बात पर अन्त तक डटा रहा।

बयान देकर जब मैं लौटा, तब मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई

कि आज भक्त ने अपने आराध्य देव को अत्यन्त निकट से देखा। उसी दिन मिस एलिस को यह कहकर नाराज़ कर दिया कि मैंने आज बाबा रामोदार के विरुद्ध गवाही दी है। उसने मान-भरे स्वर में कहा कि "तुम महापुरुषों का आदर करना नहीं जानते। यदि हमारे देश में बाबाजी जैसा कोई सफल व्याख्यानदाता होता, तो उसे समस्त देश अपना मुकुट-मणि बना लेता और वह सरकार का एक अङ्ग समझा जाता। मुझे तुम्हारी समझदारी पर तरस आता है।"

मैं मिस एलिस की बातों से यद्यपि प्रकटतः कभी सहमत होता नहीं देखा गया; पर उन्हें सुनता हूँ, ख़ूब ध्यान देकर। उसके लाल और पतले-पतले सुन्दर होंठ बोलते समय क़ैंची की तरह इस तेज़ी से चलने लगते हैं कि उन पर आँखें नहीं ठहर सकतीं। एक सांस में मुझे भरपेट कोस कर उसने कहा—'क्या बाबाजी बौद्ध हैं? तुम मुझे वहाँ क्यों नहीं ले गये? मैं उनके दर्शन करने के लिए सचमुच बहुत ही उत्सुक हूँ!"

हम फिर बाबाजी के डेरे की ओर गये, तो पता चला कि आप पटना चले गये। स्टेशन गये तो देखा कि, पटना की गाड़ी प्लेटफ़ार्म से बाहर हो रही है। अपना-सा मुँह लिये लौट आये। उस विदेशिनी की लालसा मन में ही भाप बनकर विलीन हो गयी। आज एलिस यहाँ नहीं है। वह अपनी मातृभूमि की गोद में लौट गयी है; पर प्रत्येक डाक से उसका एक न एक रंग-बिरंगा पत्र आता ही रहता है और सौ पीछे पाँच पत्रों में बाबा रामोदार की चर्चा अवश्य ही रहती है।

जब हमें यह पता लगा कि यही बाबा रामोदर ही "त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन" नाम से विख्यात हैं, तब हम चौंक उठे। मिस एलिस ने तो यहाँ तक कह दिया कि "यह भारतीय महापण्डित

अब ठीक स्थान पर पहुँच गया। एक बौद्ध संन्यासी की हैसियत से यह संसार के सामने खड़ा हो सकेगा। इसका कार्य-क्षेत्र अनन्त हो गया।

"बुद्धचर्या" आदि सांकृत्यायन जी की जितनी पुस्तकें निकली हैं, मैं सभी को मिस एलिस के पास भेजता रहा हूँ।

यह सब तो हुआ; पर सांकृत्यायन जी की निकटता प्राप्त करने की चाह मेरे हृदय से नहीं मिटी। यदा-कदा यह सोचकर घबरा उठता था कि मैं गृह-कूप का एक मण्डूक क्यों हुआ? "राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रबल पण्डित जिस देश में हों और देश के नवयुवक उनसे लाभ न उठावें, यह बड़ी ही शर्म की बात है।" यह तो मैं भी सोचता हूँ; पर आज तक केवल सोचता ही रहा। मेरा यह जीवन तरह-तरह की कल्पनाओं का समूह मात्र है। बहुत कुछ सोचा, बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ कीं। कितने हवाई क़िले बनाये; पर—

"केशव मन की मन ही रही"

जब भारत के सिर पर मुकुट था और दाहिने हाथ में नंगी तलवार थी, यहाँ बौद्धधर्म का जयनाद, हिमालय की तराई से गूँज उठा था। भगवान् शाक्यसिंह ने न केवल इस आर्यभूमि को ही, बल्कि आधी से अधिक दुनियाँ को हिला दिया था। आज भी अजन्ता के रंग-बिरंगे शिलाखण्ड अपने अतीत गौरव के मूक साक्षी हैं।

बौद्ध भारत का इतिहास हमारे सामने है; पर उसका रूप प्रस्तर-खण्डों और गुफाओं की धूलिधूसरित चारुता में आज लीन हो गया है। पाषाण-हृदय पर नाना लिपियों में लिखे हुए बौद्धयुग के वीरों के यशोगान आज भी संसार के पण्डितों के द्वारा सादर गाये जा रहे हैं। समय ने निष्ठुरता-पूर्वक करवट बदली। साराका सारा दृश्य बदल गया। "अजन्ता" के कलाभवनों में सियारों और

चमगीदड़ों ने डेरा डाला तथा दुर्लभ शिला-लिपियाँ भङ्ग घोटने की सिलौटी बना डाली गयीं। बौद्ध-संस्कृति भारत से सिमटकर हिमालय की तलहटी में जा लगी; चीन, जापान, तिब्बत, जो एक दिन भारत के श्रद्धालु शिष्य थे। आज अपनी धार्मिक संस्कृति को हमसे भिन्न समझ रहे हैं—वे हमारी दृष्टि में अहिन्दू और अछूत बन गये हैं!

हमारे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन शायद भारत के दूसरे बौद्ध संन्यासी हैं। जिस भारत ने समस्त संसार को अपने बौद्ध उपदेशकों के उपदेशामृत से अमर कर दिया था, उसी भारत में आज राहुल जैसे चार-छः नहीं, केवल दो ही बौद्ध संन्यासी हैं! समय की गति विचित्र है!

राहुल न केवल संस्कृत के ही धुरन्धर ज्ञाता हैं; बल्कि आप ऐसी दर्जनों भाषाओं के आचार्य हैं, जिनका नाम सुनकर ही हम चौंक उठते हैं। उदाहरणार्थ चीनी भाषा को ही लीजिये। इस मनहूस भाषा में सुना है, कुछ कम पचास हज़ार तो अक्षर हैं। एक एक अक्षर को एक-एक फूल या मकड़ी का जाला कहिये। राहुल बाबा चीनी जापानी, तिब्बत आदि कई गूढ़ भाषाओं के पूर्ण पंडित ही नहीं, बल्कि लेखक और व्याख्यानदाता भी हैं। अँगरेजी, संस्कृत और गरीबनी हिन्दी की चर्चा चलाना तो परिहास मात्र है। अनेक अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों से आपने हिन्दी का भंडार भरा है। हिन्दी के प्राचीनतम ग्रन्थों को खोजकर आपने ही उसे १२०० वर्षों की प्राचीन भाषा सिद्ध किया है। पाली के आप उपाधि-लब्ध महापंडित और आचार्य हैं।

पूस का महीना था। हवा में मानों बर्फ के नन्हें-नन्हें कण उड़ रहे थे। दोपहर को मैं अपने कमरे में मेज के सामने बैठा था। खुली हुई खिड़की से दिवाकर की मृदुल किरणें आ रही थीं। मैं किसी

पुस्तक से उलझा हुआ था। मेरे सामने नील गगन मुस्करा रहा था और दूर पर पहाड़ियों की शान्त मनोरम क़तारें थीं। एक मोटा सा कम्बल लपेटे चुपचाप स्वाध्याय में निमग्न था। कमरा जनहीन था तथा चारों ओर पूर्ण शान्ति विराजमान थी। सामने की दीवार पर चिपकी हुई दो गिलहरियाँ पूछ कुदा-कुदा कर थके हुये स्वर में बोल रही थी।

मैं पढ़ता-पढ़ता प्रायः थक गया और रवीन्द्रनाथ की किसी पुस्तक से मस्तिष्क में नवजीवन का छिड़काव करने लगा। कविगुरु की की थिरकती हुई छन्दः सुन्दरी मेरे मानस नेत्रों के सामने से गुज़रने लगी। इसी समय किसी ने कहा—"बाहर एक संन्यासी खड़े हैं। मिलना चाहते हैं।"

मैं आसन त्याग कर उठ खड़ा हुआ। कमरे से बाहर निकलकर देखता क्या हूँ कि, हमारे गया कांगरेस युग के रामोदर बाबा और अब के भारत-विख्यात बौद्ध संन्यासी राहुल जी अपनी हास्य-विभासे मेरे घर को आलोकित कर रहे हैं। पहले तो मुझे अपनी आँखों पर क़तई विश्वास नहीं हुआ—संसार-विख्यात यह महा-पंडित मुझ जैसे गुण साधन हीन तुच्छ हिन्दी-सेवक के यहाँ क्यों पधारेगा !

पंडित प्रवर रामावतार शर्मा जी को अपनी कुटिया पर देखकर सचमुच मैं इससे कम अवाक् हुआ था। शर्मा जी औढरदानी थे, मस्त थे। जिस पर ढर गये, बस उसे निहाल कर दिया। मैंने अपनी इन्हीं अभागी आँखों से देखा है कि बड़े-बड़े ध्वजा-धारी विद्वान् शर्मा जी की देहरी पर आस्ताना रगड़ रहे हैं, पर भगवान् की समाधि ही नहीं टूटी और मुझ जैसे तुच्छ जन को देखकर वे कभी-कभी रास्ते मोटर रोककर भी दो बातें कर लेने में संकोच नहीं मानते

बड़े आदमियों से प्रायः डरता रहता हूँ। मेरी दृष्टि में राहुल जी भी बड़े आदमी थे। यही कारण है कि मैं दूर से ही आपकी भक्ति करता था और यह सोचता भी नहीं था कि इस महापुरुष के चरणों में क्षण भर बैठने का कभी अवसर भी मिलेगा।

मैंने अपने साहित्यक जीवन में जितना यश पाया है; जितनी वाहवाही पायी है; उससे अधिक संग्रहीत किया है कटु अनुभवों का कूड़ा। दिल्ली से ही मेरे मन में सनक समा गयी थी कि लखनऊ देखना चाहिये। ख़ैर साहब, जनाब वाजिदअली शाह की लीला-भूमि में ठीक समय पर पहुँचा। ट्रेन से उतरा नहीं कि लखनऊ की ख़ास-ख़ास ख़ूबियाँ सामने आयीं। जैसे चुंगी, धूलि आदि-आदि। मैं एक मोटर करके अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा। यद्यपि मैंने अपने लखनौए मित्र को अपने पधारने के समय की सूचना दे दी थी; पर नवाबों की राजधानी में बसनेवालों का स्वभाव भी कुछ स्थान के ही अनरूप होना चाहिये।

बीसों सड़कों और चौरस्तों की ठोकरें खाकर जब मित्रवर की कोठी पर, वेशर्म की तरह, पहुँचा, तब पता चला कि "आप अपने आफ़िस में क्लर्कों के सिर का सनीचर उतार रहे हैं। आफ़िस पहुँचा, तो देखता क्या हूँ कि, मेरे मित्र महाराज किसी सज्जन को एक साँस गालियाँ सुना रहे हैं और कह रहें हैं कि इस बार कलकत्ता गया, तो बेटे की सारी साहित्यिक समझदारी पर पेशाब कर दूँगा!"

मैं सहमकर दो क़दम पीछे हट गया। कोई २५ मिनट तक खीस निकाले खड़ा रहा, पर किसी मनुष्य कहे जानेवाले पशु ने मेरी ओर ध्यान भी नहीं दिया! पल भर के लिए मेरे हृदय में "पंडापन" पूर्ण वेग से जागा; पर फिर वहीं कमज़ोरी छलछला पड़ी, जिसे कायर और और निर्बल आत्मा शान्ति के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि हम पंडा

कहे जानेवाले जीव बड़े बदनाम है; पर मैं यह कहूँगा कि सच्चा स्वाभिमानी आपको हमारे ही वर्ग में मिलेगा। यदि मेरी जगह पर कोई दूसरा पंडा इस प्रकार अपमानित होता, तो शायद मामला एसोशियेटेड प्रेस तक पहुँच जाता और जज साहब बहादुर के खुले कोर्ट में उसका अन्त होता। पर अपनेराम ने थोड़ी-बहुत नपुंसकता-पूर्ण शिक्षा पाकर जिस निर्बलता का संग्रह किया है, उसका परिणाम इसी रूप में प्रकट भी होना चाहिये।

ख़ैर, मैं उसी समय से नामी मनुष्यों से भयभीत रहता हूँ। जहाँ मैंने सुन लिया कि अमुक सज्जन बड़े आदमी हैं वहाँ मेरा माथा ठनका। मैं राहुलजी को भी न जाने क्यों मन-ही-मन बड़ा आदमी समझ रहा था। ऐसा समझने का कोई कारण भी रहा होगा; पर मैं आज उस कारण को प्रकट करना नहीं चाहता। जो हो, यह मेरी भूल थी, जो मैं राहुलजी को एक बड़ा आदमी समझकर दूर से ही उनकी पूजा करना चाहता था। वे तो हमारे "साथी" हैं।

मेरे मित्रवर, जिनकी पवित्र पुण्य गाथा ऊपर गा चुका हूँ, एक अधकचरे मनुष्य हैं। शिक्षित तो नाम-मात्र के हैं; पर चालाकी है चाणक्यवाली। इतने साधारण मनुष्य होते हुए भी जब बड़े आदमी बनने के सभी तरीक़े आपको मालूम हैं, तब जिसे परमात्मा ने ही सभी प्रकार से बड़ा आदमी बना दिया है, उसके सम्मुख हमारे जैसे तुच्छ नर के तो ख़ुदा हाफ़िज़।

जो हो, मैं क्षण भर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ बना राहुलजी के सम्मुख खड़ा रहा। फिर पल भर में लपटकर चरण छू लेने की अनोखी समझदारी दिखलाकर मनही मन तृप्त हो गया।

मैं जिस कमरे में बैठकर लिखता-पढ़ता हूँ, वह बहुत ही छोटे

आकार का, कोई ८ फ़ीट लम्बा ६ फीट चौड़ा है। इसकी दीवार पुस्तकों से भरी हुई है और फ़र्श छोटी-छोटी तीन कुर्सियों से। चौथी कुर्सी रखने की जगह ही नहीं है। यहीं मैंने राहुलजी का स्वागत किया। आपके विशाल शरीर से समस्त कमरा इतना भर गया कि यदि दो सज्जन और किसी ओर से धमक पड़ते, तो यह बहुत संभव था कि पूरा कमरा ब्लैकहोल बन जाता ! मैं ५ फ़ीट ६ इञ्च लम्बा व्यक्ति राहुलजी के सामने भीगी हुई बिल्ली-सा दिखलाई पड़ता था। अपने तुच्छ आकार को देखकर मैं मन-ही-मन लज्जित हो रहा था।

राहुलजी को देखकर मिश्र की पुरानी तस्वीरें याद आती हैं।

राहुलजी के दिव्य काषाय चीवर पर संध्या की उतरती हुई रवि-रश्मि पड़ रही थी और उस चीवर के चटकदार रंग से समस्त कमरा आलोकित हो रहा था। स्मित-विभामण्डित राहुलजी का वदन-मण्डल भी सद्यः-विकसित कमल-पुष्प की तरह जान पड़ता था। वह दृश्य आज तक मेरे हृदय से ओझल नहीं होता। मुस्कराना राहुलजी की एक ख़ास विशेषता है। सुख और दुःख, मान और अपमान में भी सदा बच्चों की-सी सरल मुस्कराहट मैंने अन्यत्र नहीं देखी। यह बात सत्य है कि चेहरा हृदय का प्रतिबिम्ब है। कुछ क्षण हम चुपचाप बैठे रहे। मानों हममें से प्रत्येक बोलना तो चाहता है; पर बोलने योग्य बात खोजे नहीं मिलती ! अन्त को मैंने इस मनहूस शान्ति का मुँह काला किया। बातें आरम्भ हुईं। देश-विदेशों की कहानियाँ राहुलजी ने सुनायीं। तिब्बत का तो ऐसा वर्णन सुनाया कि उस रात को मैं रात भर डरावने सपने देखता रहा। चौरासी सिद्धों की चर्चा भी आपने की। उस समय तक आपके सम्पादकत्व में "गङ्गा" का "पुरातत्त्वाङ्क" नहीं निकला था। चौरासी सिद्धों की रचनाओं को भी मैंने राहुलजी के श्रीमुख से ही सुना था। "पुरा-

त्त्वाङ्क” में प्रकाशित होने पर यह विषय मेरे लिये बासी हो गया था।

क़रीब एक घण्टे तक मैं अत्यन्त उत्साहपूर्वक राहुलजी से बातें करता रहा। इस महापण्डित के बोलने के ढङ्ग से भी ऐसी सरलता तथा कोमलता टपकती है कि श्रोता का मन बरबस उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। राहुलजी के अगाध ज्ञान-सागर की थाह पाना मेरे जैसे साधारणजन का काम नहीं है। दर्शन और साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व, बौद्ध-साहित्य और नाना देशों के आर्थिक, राजनीतिक मतामतों के सम्बन्ध में आपने अपने गम्भीर विचार व्यक्त किये। राहुलजी एक मूर्तिमान् पुस्तकालय हैं, जिसमें नाना देशों के गम्भीर-से-गम्भीर विचारों का संग्रह है। मालूम पड़ता है कि सारे विश्व का विद्या-समुद्र घोलकर आप पी गये हैं।

स्व० पण्डित रामावतार शर्मा के पाण्डित्य पर विहार को जो नाज़ है, उस की रक्षा राहुलजी के सबल हाथों से चिर काल तक होगी—ऐसी आशा है। आपकी जन्मभूमि यू० पी० है; तो भी विहार पर ही आपका ममत्व अधिक है।

पूस की सन्ध्या सुनहली विभा की झाँकी कराकर अनन्त में विलीन होना चाहती थी। हवा में शीतलता आ गयी थी। राहुलजी के साथ हम पुस्तकालय की ओर चले। पुस्तकालय में पहुँचते ही राहुलजी सूचीपत्र पर भूखे शेर की तरह टूट पड़े। आपने एक पुस्तक का नाम चुन लिया। पुस्तक अंग्रेज़ी में थी और उसमें संसार के पंथों का वर्णन था। पैदल चलनेवालों के लिए यह पुस्तक उपयोगिनी थी। और राहुलजी पुस्तक-पाठ में इतने तन्मय हो गये कि मुझे तो बड़ा आश्चर्य हुआ।

एकाग्रता-पूर्वक किसी काम में लग जाना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। स्वाध्याय तो बिना मानसिक एकाग्रता के हो ही नहीं

सकता। भारत के विख्यात मनुष्यों में देशबन्धु दास का नाम अवश्य लिया जाता है। एक बार दिल्ली जाने के विचार से मैं गया में गाड़ी पर बैठा और स्व० देशबन्धु कलकत्ते से पधार रहे थे। उसी डब्बे में मैं भी घुसा, जिसमें बंगाल का वह "रायल टाइगर" पड़ा हुआ था। देखा, पुस्तकों और अख़बारों के ढेर लगे हुए हैं। देशबन्धु कलम लिये लिखने में व्यस्त हैं। एक प्राइवेट-सेक्रेटरी आपको सहायता पहुँचा रहा था। गया से दिल्ली २४ घण्टे में हम पहुँच जाते हैं। किसी व्यक्ति के २४ घण्टों को हम ध्यान-पूर्वक देख लें, तो उसके नित्य जीवन की कुछ झाँकी हमें अवश्य मिल जायगी। देशबन्धु के २४ घण्टों को मैंने अत्यन्त निकट से देखा और न केवल देखा ही, बल्कि उन्हें समझने का प्रयत्न भी किया। मेरी डायरी के दो पृष्ठ अवश्य अमर हो जायँगे, जिनमें मैंने उस बार की दिल्ली-यात्रा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रारम्भिक २४ घण्टों का वर्णन लिखा है

देशबन्धु एक अमीर थे। ऐसे अमीर को तो कहीं का नवाब होन चाहिये था। महात्मा गांधीजी जैसे "मज़दूर" और "जुलाहे" को ह नेतागीरी जैसे कठोर पथ पर क़दम रखना चाहिये। इतना तो मैं भ कहूँगा कि देशबन्धु एक निष्णात विद्वान् थे। मैंने ट्रेन में उन्हें लगाता १० घण्टे अध्ययन करते देखा। आप में एक विशेषता और थी—तन्मय हो जाना। चाय की प्याली चार-चार बार ठण्ढी हो गयी; पर देशबन्धु का ध्यान भङ्ग नहीं हुआ! आठ-आठ इञ्च क़ब्र की चट्टान जैसी मोटी राजनीतिक महापुस्तकों में आप इस प्रकार चिपके हुए थे, जैसे मैं कभी "चन्द्रकांता" और "लण्डन-रहस्य" में भी नहीं चिपका था। देशबन्धु इतनी शीघ्रता से पुस्तक के पृष्ठ, पर-पृष्ठ उलटते और लाल पेंसिल से मार्क लगाते जाते थे कि आश्चर्य होता था। कभी-कभी आप कलम से एक सुन्दर-सी नोट-बुक पर

बड़ी ही शीघ्रता-पूर्वक कुछ लिख लेते थे। इसका नाम है स्वाध्याय और मनन। जो समय का मूल्य नहीं समझता, उसका जीवन सफलता की छाया भी नहीं छू सकता। यहाँ तो इस बेरहमी के साथ हम समय का गला घोंटते हैं कि मानवता बेचारी काँप उठती है। विधाता ने जीने के लिए जितना समय दिया है, उसे घोर घृणा और उपेक्षा के साथ मटियामेट करके मानो हम यह सिद्ध कर देते हैं कि संसार में हमारा जन्म अकारण हुआ है—हम विधाता की नासमझी के मूर्तिमान् परिणाम हैं।

हाँ, तो राहुलजी की चर्चा चल रही थी। पुस्तकालय में पहुँचते ही आपका नाता संसार से छूट गया! बहुत देर तक खड़ा-खड़ा मैं मन-ही-मन ऊब उठा और प्रणाम करके घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में कई मित्र मिले। गप्पें मारता, चाय और नाश्ता करता हुआ सिनेमा में जा धमका। आधी रात तक बिलमोरिया और मिस कज्जन की चुहलबाज़ियाँ देखता रहा; पर मेरे मन में एक बार भी अपने आपको धिक्कारने का विचार उदित नहीं हुआ! मैं कहने को तो एक साहित्यिक हूँ, पर न तो स्वाध्याय करता हूँ और न मनन। यही सन्तोष है कि मैं एक पतित अमीर से कुछ उन्नत दशा में हूँ। कहाँ राहुलजी का स्वाध्याय-प्रेम और कहाँ मेरी अवारागर्दी। हाँ, जिस समय राहुलजी पुस्तकालय में स्वाध्याय कर रहे थे, उस समय अपने एक वकील मित्र के यहाँ बैठा मैं रसगुल्ले खा रहा था, चटनी और मुरब्बों को मिट्टी में मिला रहा था! यही है मेरी साहित्याराधना!

हम यह शिकायत करते हैं कि सम्पादक हमारे लेखों को लौटा क्यों देते हैं; पर हम कदाचित् ही सोचते हैं कि हमारा पाण्डित्य कितना है, हमारा स्वाध्याय कितना है। यदि हमारी लेखनी में बल होगा, यदि हम अध्ययनशील और पंडित होंगे, तो सम्पादक हमारी

लकीरों को सिर पर चढ़ावेंगे, सादर स्वीकार करेंगे। उन्हें बाध्य होकर हमारा सम्मान करना पड़ेगा। पहले हम अपने आपको पूजा पाने का अधिकारी बना लें, तब संसार के आगे पूजा करने के लिए अपने चरण फैलावें। हम हिन्दीवालों में लज्जित होने की आदत ही नहीं है। हमारे यहाँ सच्चे साहित्यिक कम और साहित्यिक लफ़ंगे अधिक हैं।

तीन-चार दिनों के बाद जब मैं टहलता हुआ पुस्तकालय की ओर गया, तो लाइब्रेरियन से पता चला कि उस दिन राहुल महोदय कोई आठ बजे रात तक पढ़ते रहे और प्रातःकाल लौटा देने का वचन देकर उस ग्रन्थ को साथ भी लेते गये, जिसे आपने ठीक समय पर लौटा भी दिया। उफ़! इतनी भयानक ज्ञान-पिपासा! जिस पुस्तक को राहुलजी पढ़ रहे थे, वह कोई ८०० या ९०० पृष्ठों की होगी। एक रात में आपने पूरी पुस्तक पढ़ डाली। मुझे अच्छी तरह याद है कि करीब ३ मास में मैंने "गीता-रहस्य" को ऊँघ-ऊँघ कर समाप्त किया था। चार पृष्ठ पढ़ते ही जँभाइयों का वह ताँता बँध जाता कि पढ़ना स्थगित कर देना पड़ता! यदि दिमाग़ पर अधिक ज़ोर दिया, तो फिर पलकें भारी हो गयीं। नौकर को पङ्खा खींचने का हुक्म दिया और आप अनन्त निद्रा में लीन हो गया! सचमुच मैं अपने और राहुलजी के जीवन से तुलना करता हूँ, तो सहसा मुँह से निकल पड़ता है कि तुलसीदास ने मेरे ही जैसे सुपूतों के लिये यह लिखा है—

"जननी जौबन जठर कुठारू!"

(४)

१५ जनवरी के कुख्यात भूकम्प के बाद की घटना है। समाचार-पत्रों का मान बढ़ गया था। मैंने किसी पत्र में पढ़ा कि बाबा राहुल

भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में काम कर रहे हैं। इस समाचार को मैंने उड़ती नज़रों से पढ़ा था। मैं जानता हूँ कि राहुलजी के हृदय में लोक-सेवा की कैसी दिव्य भावना है। आप कर्ममय जीवन के एक मूर्तिमान उदाहरण हैं। दूसरे शब्दों में आप एक कर्मवीर हैं। आपका आध्यात्मिक परिचय हमें नहीं—यदि भारत स्वतन्त्र हो गया, तो—हमारे पौत्र-प्रपौत्रों को पूर्ण रूप से मिलेगा। आज तो हम राहुलजी के केवल वपु और दो-चार ग्रन्थों को ही देखते हैं। इनके अतिरिक्त आप में और जो कुछ भी है, दिव्य है, पूजनीय और स्तुत्य है।

भूकम्प ने गया नगरी को भी खँडहर बना दिया था। एक तो परिस्थिति के प्रहारों से यह अधमरी हो ही रही थी, उस पर आया भूकम्प। नटराज के ताण्डव नर्तन ने धूलि के उन ढेरों को भी, जिनके भीतर स्मृतियों की कुछ कसकन छिपी हुई थी बिखेर दिया! उन खँडहरों को भी तहस-नहस कर दिया, जो अतीत के भग्नदूत की तरह वर्तमान के दरबार में खड़े होकर अपने दर्शन-मात्र से परिस्थिति का ज्ञान करा रहे थे।

धीरे-धीरे चैत आया। पतझड़ का समय हो गया। वृक्षों में लाल-लाल कोपलें भी झलकने लगीं। मेरे घर के सामने जो नीम के दो तरुण वृक्ष हैं, उन पर भी वासन्ती हवा डोलने लगी। कोयल की कूक प्रातःकाल, सुनसान दुपहरी को और सन्ध्या समय सुन पड़ने लगी। शरीर आलस्य से अकर्मण्य होने लगा। ढहे हुए घरों पर भी मलयानिल मचलने लगा। नैसर्गिक नियम कितने निर्मम होते हैं!

मैं अपने कमरे में बैठा था। पिताजी भी उपस्थित थे। भूकम्प ने उन्हें मेरे साथ रहने को बाध्य किया था; क्योंकि ऊपरडीहवाले मेरे सभी मकान भूकम्प की भेंट हो गये हैं। मैं अपने कमरे में

मनहूस की तरह बैठा-बैठा ऊँघ रहा था। इसी समय किसी अपरिचित कंठ ने आवाज़ लगायी—"बाबू हैं ?" मैं चौंक पड़ा ! देखता क्या हूँ कि एक अरदली के साथ राहुलजी खड़े मुस्करा रहे हैं ! यह ७ वीं मार्च की बात है।

कोई डेढ़ साल की बात है, मेरी कुटिया पर हिन्दी की एक विख्यात पत्रिका के यशस्वी सम्पादक पधारे। सम्पादकजी एक विख्यात शास्त्री हैं और सचमुच एक प्रतिभा-सम्पन्न तेजस्वी हिन्दी-सेवक हैं। बातें होने लगीं, तो आपने कहा कि—"भाई, राहुलजी बड़े ही गम्भीर तथा स्वाभिमानी संन्यासी हैं। एक बार एक बड़े भारी धन-कुबेर के बार-बार निहोरा करने पर भी आप उसकी अट्टालिका में नहीं पधारे और न मन लगाकर वार्तालाप करना ही पसन्द किया।···राहुलजी महामेधावी पंडित हैं।"

सम्पादक महोदय की यह बात मेरे कानों में गूँजती रही। सम्पादक जी से और राहुलजी से मित्रता है तथा दोनों ही सरस्वती के समान पुजारी हैं। मैं सम्पादकजी की बातों को सुनकर न केवल चकित ही हुआ, बल्कि बहुत ही प्रभावित भी हुआ। हमारे भीतर ग़ुलामी की एक अत्यन्त घृणित मनोवृत्ति, ख़ुशामद के रूप में, पायी जाती है। जहाँ किसी अमीर को देखा कि, "देहि पदपल्लव मुदारम्" कहकर दौड़ पड़े। ख़ुशामद करने की जो घृणित प्रवृत्ति, हमारे भीतर, विष की तरह, पायी जाती है, उसके कारण हम व्यक्ति-पूजा की ओर अग्रसर होते हैं। जिस मनुष्य को परमात्मा या प्रकृति ने कुछ बहुमूल्य विशेषताएँ दी हैं, उसकी पूजा तो ख़ैर किसी-न-किसी बहाने की भी जा सकती है; पर जो भाग्य का लाड़ला है, जिसके पास अकारण बहुत बड़ी तादाद में सिक्कों का ढेर लगा हुआ है, वह पूजा का पात्र कैसे बन गया, यह तत्त्व आज तक मेरी समझ में नहीं

आया ! धन जमा कर लेना किसी देवोपम गुण में नहीं है। चोरी, बेईमानी, शोषणनीति, कंजूसी आदि-आदि अनगिनत ऐसे महाभ्रष्ट तरीक़ों को धन जोड़ने के काम में लाकर लोग धनी बनते देखे गये हैं। इसके विपरीत तरीक़े भी व्यवहार में लाये जा सकते हैं; पर एक वीर के लिए, पंडित के लिए, मानव जाति के सेवक के लिए, साधक के लिए, यह सन्देह प्रकट ही नहीं किया जा सकता कि इसने नाजायज़ तरीक़ों से यह वीरता प्राप्त की है, पाण्डित्य अर्जन किया है, भूतदया को हृदय में स्थान दिया है, या सांसारिक मिथ्या भोगों का मुँह काला करके सत्य को अपनाया है, ईश्वर की महत्ता में अपने आपको लीन कर दिया है। धन जमाकर डालना किसी व्यक्ति-विशेष की विशेषता नहीं है; पर मिट्टी के किसी तुच्छ पुतले के लिए देवोपम तात्त्विक गुणों को अपने हृदय में विकसित कर देना एक महत्ता है। राहुलजी यदि बक़ौल मेरे आदरणीय सम्पादकजी के अमीरों से, वैसे अमीरों से, जिनका धन यदि ले लिया जाय, तो वे बेचारे ज्यामिति के बिन्दु भर रह जाँय, नहीं मिलते, तो इसमें उनकी बड़ाई है। इसी का नाम है सच्ची तेजस्विता।

हाँ, तो ७ वीं मार्च की दुपहरी में राहुलजी हठात् मेरी कुटिया पर पधारे। हमने उठकर आपका स्वागत किया। फटी हुई दरी पर, जिस पर हम उस समय बैठे थे, राहुलजी भी बैठ गये। कितनी सरलता है इस महापंडित के विशाल हृदय में ! बाबा को हम घेरकर बैठ गये तथा लदाख और तिब्बत आदि के सम्बन्ध में पूछने लगे।

आपके यात्रा-वर्णन पढ़ने को मिल जाते हैं; पर हमारे हृदय में उठने वाली कुतूहल-मूलक शङ्काओं का सामाधान वे नहीं कर सकते। राहुलजी को पाकर हमने शङ्काओं का वह दफ़्तर आपके सामने खोल दिया कि एक घण्टा दो-चार मिनटों में ही समाप्त हो गया।

राहुलजी ने कहना आरम्भ किया—मैं गया में एक जापानी भिक्षु के साथ आया हूँ। बुद्ध भगवान् के दर्शन करने थे। तिब्बत जा रहा हूँ। यहाँ मि० चौधरी (जो आई० सी० एस्० हैं) के यहाँ ठहरा हूँ। तुमसे बिना मिले चला जाना अन्याय होता, इत्यादि-इत्यादि

मैंने अपने भाग्य की सराहना की। ऐसे महापुरुष के चरणों की धूलि से जिसका ललाट पवित्र नहीं हुआ, मेरी तुच्छ बुद्धि से उसका दुर्भाग्य ही है। यह बात मैं अपनी स्थिति के हिन्दी-सेवकों को मद्द नज़र रखकर लिख रहा हूँ। महानों की चर्चा चलाना महान् को ही शोभा देता है। अपनेराम इतने दुस्साहसी नहीं हैं, जो छोटे मुँह बड़ी बात बोल जायँ।...हाँ, तो बहुत समय तक इधर-उधर की चर्चा चलती रही। आपने अपने लिखे तिब्बती व्याकरण का प्रूफ़ दिख-लाया, जो कलकत्ते में प्रकाशित हो रहा है। परमात्मा जाने, इस व्याकरण के पूर्व तिब्बत भाषा का कोई अच्छा व्याकरण उपलब्ध था या नहीं। हम हिन्दीवालों को इस बात का गर्व होना चाहिये कि हमारी हिन्दी के एक सेवक ने तिब्बती भाषा को सुधारा है और तिब्बतियों को शुद्ध बोलने और लिखने की ओर अग्रसर करने का ठोस प्रयत्न किया है।

राहुलजी ही के श्रीमुख से सुना कि मि० चौधरी हिन्दी की चिर-परिचित लेखिका पटियाला-प्रवासिनी श्रीमती हेमन्तकुमारी चौध-रानी के सुपुत्र हैं। चौधरानीजी बंगाल प्रान्त की हैं; पर पटियाले में आप बस गयीं तथा हिन्दी में लिखने लगीं। क़सीदे पर आपने कोई पुस्तक भी लिखी है। मि० चौधरी पुरातत्त्व के स्कालर हैं और आपने बहुत कुछ इस क्षेत्र में काम भी किया है।

मैं भी राहुलजी के साथ चौधरी साहब के दर्शन के लिए जाने को उद्यत हो गया। राहुलजी मि० चौधरी की मोटर पर ही थे।

चौधरीजी यहाँ अतिरिक्त जज थे। चलते समय राहुलजी ने हमारे परिवार भर का चित्र उतार लिया। एक नन्हा-सा केमरा आपके गले में शालग्राम की तरह सदा झूलता रहता है। इस केमरे ने न जाने कितने दुर्लभ दृश्यों को अपने अन्धकाराच्छन्न हृदय में छिपा रखा होगा, कितने मुखड़ों की साकार स्मृति को इसने अपने अन्तस्तर में धारण किया होगा, इसका इतिहास यदि केमरे के मुँह होता, तो ज़रूर सुनने को मिलता। यह केवल दूसरों के लिए ही अपने काले तथा नन्हे से हृदय को नाना प्रकार के साकार दृश्यों और मनोरम स्मृतियों से भर लेता है। राहुलजी का केमरा यदि हठात् बोलना सीख जाय, तो हमें नाना देशों के अनेक दुर्लभ दृश्यों के वर्णन सुनने को मिलें।

हमारे परिवार का एक नन्हा-सा चित्र लेकर राहुलजी चले। रास्ते भर आप केमरा से फ़िल्म उतारने और दूसरी फ़िल्म लगाने का काम करते गये। धीरे-धीरे हम गया की पतली गलियों को समाप्त करते हुए मोटर के निकट पहुँचे। रास्ते में लोग आश्चर्य-विमुग्ध दृष्टि से राहुलजी को देखते थे। किसी कवि ने लिखा है—

> "विद्या वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च,
> वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः प्राप्नोति गौरवम्।"

साधारण जनता को तो आपकी विद्या, वाचा तथा सम्पत्ति का कोई ज्ञान न था; पर आपके विशाल, दिव्य वपु और अत्यन्त नयन-रञ्जन काषाय चीवर की छटा निराली ही थी। आपके प्रभावशाली व्यक्तित्व के सामने किसका सिर आदर से झुक न जाता होगा? मोटर के निकट मैं पहुँचा, तो देखता हूँ कि एक चीनी लड़का खिड़की से झाँक रहा है। मैंने सोचा, सम्भवतः यह राहुलजी का कोई साथी होगा; पर पूछने से पता चला कि यह मि० चौधरी का अनुचर है।

चौधरी साहब के सम्बन्ध में कुछ सोचने का मसाला प्राप्त करके मैं चुपचाप मोटर के भीतर जा बैठा।

शहर के बाहर एक अत्यन्त कवित्वपूर्ण स्थान में चौधरी साहब की कोठी थी। चारों ओर उपवन की बहार और खुला हुआ भूभाग तथा नन्हीं पहाड़ियों की क़तारें। पतझड़ के दिन थे। नाना जाति के वृक्षों पर वासन्ती हवा अठखेलियाँ कर रही थी। कोयलों ने स्वप्न का जाल-सा बुन रखा था। संध्या की उतरती हुई रविसम्भवा विभा में अनिर्वचनीय मादकता थी। कभी-कभी खुले हुए प्रान्तर से ईषत् गरम हवा के मृदुल झकोरे आ जाते थे।

हम चौधरी साहब की कोठी पर पहुँच गये।

चौधरी साहब एक ऐसे नवयुवक हैं, जिनके हृदय में जवानी की उमंगें थिरकती रहती हैं। आप एम० ए० हैं और हैं सिविल सर्विस में। आप बे-व्याहे हैं। विवाह-सम्बन्धी आपके सिद्धान्त क्या हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम; पर चौधरीजी जैसे आज़ाद दिल के युवक को व्याह के नरक-कुंड से बचना ही चाहिये। वैवाहिक जीवन मनुष्य को एक ऐसा बन्दी बना डालता है, जिसका उद्धार सम्भवतः मर जाने पर भी नहीं होता। कम-से-कम जिसके हृदय में कुछ कर दिखलाने की शक्ति और प्रबल भावना हो, उसके लिए शादी तो फाँसी से भी बुरी बला है। मनुष्य अपनी शक्ति और प्रतिभा का ९९ सैकड़ा भाग लवण, तण्डुल, इन्धन, औषध और छठिहार तथा मुंडन आदि में बरबस खपा डालता है। नाना प्रकार की अकथनीय चिन्ताओं की आँधी में जीवन का कैसे ख़ातमा हो जाता है, यह पता ही नहीं लगता। यदि मेरा अधिकार हो, तो मैं संसार भर के ऐसे पिताओं को फौजी अदालत के हवाले कर दूँ, जिन्होंने अपने पुत्रों को उस अवस्था में जब कि वे कुछ सोच-समझ भी नहीं सकते, विवाह जैसे भयानक

नरक में झोंक देने का पाप किया है। यदि हम सहृदयता-पूर्वक विचार करें, तो इस अनुमान में हमें सत्यता की पवित्र झलक मिलेगी कि केवल भारत में ही ऐसे संख्याहीन युवक मिट गये, जो यदि वैवाहिक बन्धनों में अनजानते न फँसे जाते, तो अपने आपको अमर कर डालते। जिसे अपने दायित्व का ज्ञान नहीं है, उस पर निहायत नाज़ुक दायित्व लाद देना मानवता के क़ानून से दफ़ा ३०२ आई० पी० सी० का अपराध है।

हाँ तो चौधरी साहब अविवाहित हैं और कई अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं के ज्ञाता हैं। आजकल आप रूसी भाषा का अभ्यास कर रहे हैं। जर्मन, फ्रेंच आदि तो अपनी मातृभाषा की तरह लिख बोल लेते हैं। पुरातत्त्व के आप विशेषज्ञ हैं। हिन्दी में भी लिखते हैं, इनकी हिन्दी-कविताएँ मैंने सुनीं। आप अच्छी और प्राञ्जल हिन्दी लिख लेते हैं। पुरातत्त्व-विषयक आपका ज्ञान असाधारण है और यही कारण है कि राहुलजी से आपकी निकटता तुरन्त स्थापित हो गयी। सुना है कि दोनों में जान-पहचान करवानेवाले एक विश्वख्यातिलब्ध पुरातत्त्व के भारतीय महापंडित हैं।

चौधरीजी का बड़ा-सा बैठकखाना पुस्तकालय की तरह सजा हुआ था। पुस्तकों और सामयिक पत्रों की छटा निराली थी, विविध भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें आलमारियों में सजी थीं। स्वयम् चौधरीजी के आँके हुए सुन्दर-सुन्दर चित्र दीवारों पर लटक रहे थे। कमरे के बाहर संन्ध्या की धूप फैली हुई थी तथा वृक्षों पर पक्षी चहचहा रहे थे। इसी समय कोर्ट से चौधरी साहब आये थे! पल भर में आप अपने सभी कमरों में घूम आये। आपने तितली की-सी चञ्चलता थी।

हाँ, जब तक चौधरी साहब नहीं आये थे, तब तक मैंने राहुलजी से

पूछा—"आप फिर तिब्बत जाना चाहते हैं, सो इसका कारण क्या है?"

आपने कहा—"महतोजी, वहाँ बहुत शान्ति रहती है और मैं एक ग्रन्थ लिखना चाहता हूँ। एक तो वहाँ लिखने का समय बहुत मिलता है, दूसरे जिस विषय पर मैं कलम उठाना चाहता हूँ उसका मसाला वहाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। तीसरी बात यह है कि वहाँ की ऋतु ऐसी है कि अध्ययन में खूब मन लगता है, मस्तिष्क पर थकावट का आक्रमण नहीं होता। शान्तिपूर्वक काम करने की वहाँ सुविधा है।"

मैं राहुलजी की बातें सुनकर सहम गया। यह व्यक्ति जान होमकर केवल अध्ययन करने के लोभ से तिब्बत जा रहा है। इसी का नाम है ज्ञान-पिपासा। है कोई इस कोटि का अध्ययनशील व्यक्ति हिन्दी के सम्राटों में?

"बुद्धचर्या" कोई पौने चार-सौ पृष्ठों की पुस्तक है, जिसे आपने केवल ६१ दिनों में मूल पाली ग्रन्थों से निकालकर हिन्दी वालों के लिए अनुवाद कर दिया। 'मज्झिमनिकाय' जो आपकी दूसरी पृथुल रचना (चौड़ी तथा दो इञ्च मोटी) है वह भी कुछ इने-गिने सप्ताहों के परिश्रम का ही परिणाम है। राहुलजी केवल स्वाध्याय के लिए ही, गर्मी के दिनों में, तिब्बत चले जाते हैं। मेरे पूछने पर कि "आप यहाँ के किसी पहाड़ पर क्यों नहीं जाते?" आपने कहा कि "यहाँ के पहाड़ों पर धरा ही क्या है। न कोई उन्नत पुस्तकालय है और न दूसरे कोई साधन।"

शिमला आदि ग्रीष्मावासों में सचमुच खेल-कूद के साधनों को छोड़कर और धरा ही क्या है? वहाँ ग़रीबों की कमाई पर स्वास्थ्य सुधारनेवालों के लिए इन्द्र का अखाड़ा जमा रहता है। एक सच्चे पंडित के लिए ये पहाड़ मनोरञ्जक भी नहीं कहे जा सकते।

चौधरी साहब ने चाय लाने का फ़रमान जारी किया। राहुलजी दोपहर के बाद कुछ भी नहीं खाते। लाचार चाय का सत्कार मुझे ही करना पड़ा। चीनीविधि से प्रस्तुत इस चाय का क्या कहना है! मानों प्रत्येक प्याले में औसत दर्जे से आधा-आधा पाउन्ड चाय है। पीते ही बुद्धि का द्वार खुल गया।

एक बात और सुनिये। राहुलजी सदा एक खद्दर की थैली अपने पास रखते हैं। यह थैली आपको अत्यन्त प्रिय है। इधर चौधरी साहब के चूहे भी बड़े शोख़ हैं। परिणाम यह हुआ कि राहुलजी की थैली में गणेशवाहनों ने अपने आने-जाने के योग्य छिद्र बना डाला। राहुल बाबा इस अनभ्र वज्रपात से मर्माहत हुए। रुकते-रुकते आपने चौधरी साहब से यह करुणकथा कह डाली। राहुलजी ने अपने चेहरे से थैली की कहानी कहते समय जितनी खिन्नता प्रकट थी, उससे चौगुना ज़्यादा खिन्न मुँह बनाकर चौधरी साहब ने सहानुभूति प्रकट की। इस शिष्टाचार प्रदर्शन ने मुझे हँसा दिया। अच्छा दुःख, अच्छी सहानुभूति!

थोड़ी देर के बाद पटना जाने का समय हो गया। चौधरी साहब अपनी मोटर पर हमें स्टेशन ले चले।

राहुलजी पटना चले गये। आप तिब्बत जा रहे हैं। वहाँ एक ग्रन्थप्रणयन करेंगे और दशहरे तक लौट आने की आशा रखते हैं। आपकी महत्ता आपके एक-एक शब्द से छलकती रहती है। मुझे विश्वास है कि राहुलजी उस संयोजक सेतु का पुनर्निर्माण करेंगे, जिससे होकर हमारी संस्कृति चीन, जापान, तिब्बत आदि में फैली थी और हम एक दूसरे के अत्यन्त निकट हो गये थे।

भावी इतिहास मेरी इन बातों का साक्षी होगा।

पोप टूरूस दि ७ (रोम)

मेरा जीवन एक नन्हा-सा चित्राधार है। रंग-विरंगे चित्रों का संग्रह और उनकी सजावट कम-से-कम मेरी उदासी के समय के लिए जीवन है। मैं जब अपने इस पवित्र चित्राधार के पृष्ठ उलटता हूँ, तब परमात्मा की श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कला का संग्रह पाकर आत्मविभोर हो उठता हूँ। किसी पृष्ठ में विहार के वृहस्पति डा० गंगानाथ, स्व० रामावतार शर्मा, अन्ताराष्ट्रिय अखाड़े के योद्धा महामति जायसवाल, महान् पण्डित राहुल आदि के मनोरम चित्र को देखता हूँ, जिनका चटकदार रंग अजन्ता के चित्रों से अधिक मनोरम और स्थायी है और किसी पृष्ठ में मनस्वी कलाकार डी० मुनरो, रे० टूरूस, मि० जेम्स आदि को पाता हूँ।

इस कवि-जीवन में उथलपुथल मचा देनेवाली और मेरी इस लेखनी में स्फूर्तिमय जीवन प्रदान करनेवाली उस अमेरिकन भुवनमोहिनी किशोरी को भी किसी पृष्ठ में देखता हूँ, जो मुझसे दूर रहते हुए भी निकट—एकदम प्राणों में एकाकार—है और जिसने मेरे सामने वह आत्मत्याग का उदाहरण रखा था, जिसकी तुलना में संसार भर की कला नीरस, ऊबड़खाबड़ और असंगत प्रतीत होती है। वह आज भी मेरी सुखद स्मृति की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वर्त्तमान है।

मैं विना अपनी ओर दृक्पात किये एक-एक करके सभी चित्रों को पाठकों के सम्मुख रखूँगा। भाषा सत्य को पूर्ण रूप से व्यक्त करने की दिशा में सदा असम्पूर्ण रही है, फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा। और प्रयत्न करूँगा कि सत्य को उसके असली रूप में आपके सम्मुख व्यक्त करूँ।

आप जानते हैं, मैं कवि हूँ। एक मिथ्यावादी और कवि में यही अन्तर है कि मिथ्यावादी बात बनाते हैं और कवि बात को बनाते हैं। मैं भी बात को बनाकर ही प्रकट करूँगा। सलज्ज भाषा का प्रयोग करूँगा; विषय को मैं, उसके असली रूप में, अक्षरों की शृङ्खला में बाँधकर आपके सम्मुख पेश करूँगा।

मेरे कुछ सम्माननीय गुरुजनों की सम्मति है कि—"संस्मरण लिखते समय अपने आपको बाद दे दिया करो।" मैं अपने आदरणीय सज्जनों की इस सम्मति का आदर करता हूँ; पर साथ ही यह भी सोचता हूँ कि अपने आपको बाद देकर संस्मरण की पूर्णता की रक्षा कर सकता हूँ कि नहीं। संस्मरण में तो मैं अपने चरित-नायक के जीवन के उसी अंश को लेता हूँ, जिस अंश का सम्बन्ध ठेठ मुझसे है। मेरे जीवन का जितना अंश मेरे चरित-नायक के जीवन के साथ मिल गया है, वही मेरे वर्णन का आधार है, विषय है, जीवन है, बल है। बस। घटा तथा बिजली आदि को बाद देकर वर्षा-वर्णन कैसे किया जा सकता है? सभी एक दूसरे से लिपटे हुए हैं।

(१)

१३-१-३४ की बात है। कोई सवा वर्ष पहले—बस!

मि० वेकफील्ड का नाम लेते ही मेरे सम्मुख एक ऐसे सौम्य, सज्जन, सद्गृहस्थ, प्रेममय अँगरेज़ की दिव्य और पवित्र मूर्ति नाच उठती है, जिसका समस्त परिवार सौजन्य का प्रतिरूप है और जो स्वयम् एक विशालहृदय अँगरेज़ हैं। जब से मि० वेकफील्ड से मेरा परिचय हुआ है, तब से मैं उनके सहृदय परिवार का एक सदस्य मान लिया गया हूँ। उनके यहाँ मैं भारतीय नहीं और वे मेरे सम्मुख अँगरेज़ नहीं। आत्मीयता की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर

हमारी मैत्री ने पारिवारिक रूप से ले लिया है। सुख में, दुःख में, हम सदा एक दूसरे के निकट रहे और एक दूसरे के प्रति सच्ची सहानुभूति हृदय में भरकर एक दूसरे से विदा हुए। यह उस संस्मरण की भूमिका है। और दिया जलाने के पहले जिस तरह बत्ती और तेल जुटा लेना आवश्यक होता है, उसी तरह यह भूमिका आवश्यक-सी है।

हाँ, तो १३–१–३४ की बात है। इसके दो दिन पहले मैं मि० वेकफील्ड के यहाँ गया था। वे कहीं बाहर गये हुए थे। श्रीमती वेकफील्ड उपस्थित थीं। गप्पें मारकर, हँसकर, हँसाकर, दो घंटे मन बहलाकर, मैं घर लौटा। सुना, साहब शिकार में हैं। कब आते हैं, पता नहीं; आते ही सूचना दी जायगी।

पूस की सन्ध्या थी। कोठी के सामने का बाग़ हरा-भरा था। लम्बे-लम्बे "यू-के-लिपटस" के वृक्षों पर पक्षी बसेरा लेने के लिए चहचहा रहे थे। बाग़ के बाद सड़क थी और उसके बाद फिर विशाल सुनसान मैदान के बीचोबीच में 'गिर्जा' बना हुआ था, जिसकी ऊँची चोटी सन्ध्या की उतरती हुई धूप में चमक रही थी। मैदान में कुछ गायें चर रही थीं। दो-चार छोटे-छोटे बच्चे गेंद खेल रहे थे। हरा-भरा मैदान सुनहली धूप से चमक रहा था।

मैं कोठी से विदा हुआ। कोठी के बाहर—बाग़ में—मि० वेकफील्ड की कन्या मिस शीला दो नन्हें-नन्हें शेर के बच्चों से खेल रही थी। मैंने कल्पना की आँखों से देखा कि मेरी बिटिया शारदा उस समय या तो माँ के साथ बैठकर आग ताप रही होगी या गुड्डे के साथ खेल रही होगी। शासक और शासित जाति की मनोवृत्ति में कितना अन्तर है!

शेर के बच्चे गुर्रा रहे थे और शीला पूँछ खींच-खींचकर उन्हें

परेशान कर रही थी। मुझे देखते ही शीला चिल्लाकर बोली—"पण्डितजी, दूर रहिये। ये काटते भी हैं!" छः वर्ष की अँगरेज़ बालिका मुझे—३१-३२ वर्ष के भारतीय नौजवान को—अपने "खिलौने" से डरा रही है! मैं मन-ही-मन हँसता हुआ घर की ओर चल पड़ा हमारा 'भरत' भी शेर से खेलता था; पर अब कथा-कहानियों का। युग लद गया। अतीत को वर्तमान रूप देना पड़ेगा। एक बार फिर 'भरत' को बुलाना आवश्यक हो गया है। उस का गुणगान मात्र अब व्यर्थ है, काहिली है।

१३-१-३४ का प्रातःकाल। पूस की बर्फ़ीली हवा के एक मर्मान्तक झोंके के साथ १३-१-३४ का शीतल प्रभात मेरे घर के आंगन में उतरा। मैं पुस्तकालय में बैठा कुछ लिख रहा था। इसी समय किसी का आकर सूचना दी कि "साहब के यहाँ से कोई आया है।" मैं भय से काँप उठा। कहीं इस समय आने का आदेश न आया हो। गरम कमरे में बैठकर साहब यह सोच भी नहीं सकते कि सर्दी के मारे तापमापक यन्त्र का पारा शून्य से कितना नीचे खसक गया है। बन्द खिड़की के शीशे से बाहर देखने पर पता चला कि कोमल धूप ऊँचे-ऊँचे मकानों के मुरेड़ों पर फैली हुई है। हिलनेवाले वृक्ष के पत्तों से हवा का अनुमान भी हो जाता था। मैं एक खुली हुई मोटर पर बैठकर हज़ारीबाग रोड पर वायु-वेग से जाने की कल्पना करके थर-थर काँपने लगा। घड़ी की ओर ध्यान दिया तो ६॥। ! मैं सन्नाटे में आ गया। लाचार कोई उचित बहाना न प्राप्त कर सकने के कारण अर्दली को बुला लाने का फ़रमान जारी किया।

भारी कोट पहने हुए उस अर्दली ने मेरे सामने एक पत्र रख दिया। पत्र पढ़कर मैं अवाक् रह गया। रोम के धर्माचार्य मुझसे मिलना चाहते हैं! कहाँ मैं और कहाँ रोम के पादरी साहब! मैंने सोचा,

यदि अप्रेल होता, तो इसे मज़ाक भी समझता; पर आज है जनवरी। मैं हिन्दी का एक ख्यात सेवक हूँ। ये तो बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रिय ख्यातिलब्ध महापंडितों से मिलते हैं। मेरे मित्र मि० वेकफील्ड ने पोप साहब को या तो ठगा या उन्हें एक पूर्ण भारतीय का नमूना उनके सामने उपस्थित करना है। इसी महत्कार्य के लिए मैं चुना गया हूँ। इन दो बातों के अतिरिक्त तीसरी कोई बात मेरी समझ में नहीं आयी। जल्दी में मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य के मोह में पड़ जाता है। इसी अवस्था का नाम है—"किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था"। मैं भी इस दलदल में फँस गया। यदि अर्जुन-सारथि मेरे सम्मुख होते तो किसी निश्चय पर पहुँच जाता; पर मेरे सम्मुख तो थे एक दाढ़ीदार शुद्ध स्वदेशी मुसलमान भाई मि० वेकफील्ड सारथि, जो सैनिक नियम से पूरी ऊँचाई में तनकर खड़े थे। "सीदन्ति मम गात्राणि" कह कर किससे कर्मयोग का तत्त्व पूछता। ड्राइवर ने अपनी पैनी दृष्टि से मेरे मन की चंचलता को निश्चय ही भाँप लिया, तब न उसने सलाम-पूर्वक निवेदन किया—"हुज़ूर, मोटर पर मर्फ़ी साहब बैठे हैं।" ये हज़रत मि० वेकफील्ड के श्यालक हैं और बड़े ही तबीयत—दार आदमी। मेरे हृदय में स्फूर्ति का संचार हुआ। सोचा, मामला कुछ गम्भीर है। चलो, देखें, क्या होता है। मैं चलने को प्रस्तुत हो गया। यदि मेरा वश चलता, तो मैं अपने गरम कमरे के साथ ही मि० वेकफील्ड की कोठी को ओर चल पड़ता। लाचार हसरत भरी निगाहों से घर की ओर देखता हुआ चला। मोटर पर मर्फ़ी बैठे सर्दी के मारे कुड़मुड़ा रहे थे। मेरी सूरत देखते ही आप बरस पड़े। थोड़ी चख़चख़ के बाद दोनों ने हाथ मिलाया। रास्ते में उनसे पता लगा कि रोम से ये पोप साहब आ रहे हैं। संस्कृत के जानकार हैं। हिन्दी लिखते हैं—अक्षरमात्र। दर्शनशास्त्र पर ग्रन्थ लिख रहे हैं। दार्श-

निकों की खान भारत-भूमि में आप कुछ मसाला प्राप्त करने को पधारे हैं। निरभिमानी हैं और अपने आपको बहुत ही छिपाकर समस्त भारत की यात्रा करेंगे।" जिरह करके मैंने अपने मतलब की बात निकाल ली। इतने में ही निर्जन सड़कों पर सरसराती हुई गाड़ी मि० वेकफील्ड की बरसाती में जाकर खड़ी हो गयी। देखा, अनेक रंग-बिरंगे मेम-साहबों से बैठकख़ाने का हाल भरा हुआ है। मैं भी "दाल-भात में मूसलचन्द" की तरह धमक पड़ा।

(२)

साहब और मेमों के दल में पहुँचकर मैं सब से पहले अपने हाथ-पैर गरम करने का उपाय खोजने लगा। मन-ही-मन मैं अपने ऊपर खीझ उठा कि अर्दली से क्यों नहीं कह दिया कि "मैं बीमार हूँ। मरा जा रहा हूँ। पचासवाँ उपवास है। नाड़ी छूटना चाहती है। इत्यादि।" यों तो कभी-कभी झूठ बोल ही लेता हूँ। यदि आज एक बार और झूठ बोल लेता, तो धर्मराज के रथ की तरह मेरे रथ का थोड़े ही पतन हो जाता, जो आजतक पृथ्वी से सवा गज ऊपर—निराधार—हवा में चल रहा है। कभी-कभी झूठ न बोलना बहुत ही संकट उत्पन्न कर देता है। सचमुच यदि कलापूर्ण तरीक़े से झूठ बोला जाय, तो वह ससुराल की मिठाई से भी अधिक सुस्वादु और स्वास्थ्यवर्द्धक सिद्ध होता है। आप चाहे जो कहें; पर मेरी यह दृढ़ सम्मति है।

एक बूढ़े भारी भरकम, तँदुला, नीरस, गम्भीर और फूले हुए गालोंवाले पादरी के स्थान पर नौजवान, हँसमुख, चंचल, तितली की तरह फुर्तीला, बालकों की तरह भोलेभाले मनुष्य को मैंने देखा, जो लम्बा काला चोगा पहने और सुन्दर-सा टोप कुर्सी के नीचे रखे सरोह चाय पी रहा था। मि० वेकफील्ड के परिचय देने पर वह

सौम्यमूर्ति उठी और दोनों हाथ जोड़कर 'नमस्कार' कहकर खड़ी रह गयी। मैं क्षण भर के लिए अकचका गया। प्रतिनमस्कार के बाद इस मूर्ति ने हाथ पकड़कर मुझे अपने पास बैठाया। यही थे डा० टूरूस ७ (of Rome)। एक मिनट में ही हम दोनों एक दूसरे के चिरपरिचित-से हो गये। हृदय खोलकर बातें शुरू हुईं। ऊधम करने का अवसर न देखकर खिन्नहृदय मि० मर्फ़ी विदा हुए और एक-एक करके साहब-मेमों का दल भी चलता बना। कमरे में रह गये इने-गिने दो-चार मनुष्य, जिनमें मि० वेकफील्ड साहब की साली मिस मर्फ़ी भी थीं।

मैं भारत के अनेक धर्माध्यक्षों के दर्शन कर चुका हूँ। यदि मैं उनसे इस ईसाई धर्माध्यक्ष की तुलना करूँ, तो मेरे धर्मभीरु पाठक मुझे क्षमा करेंगे। उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं भी धर्मोंपजीवी एक प्रकार का धर्माध्यक्ष ही हूँ। दिखावट और वास्तविकता में बड़ा अन्तर है। दिखावट मूढ़, अन्ध श्रद्धालु और कुछ ख़ास वर्ग के लोगों के हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाती है। जैसे मैंने कई मनुष्यों को उस युग में, जब स्वामी माध्वाचार्य यहाँ पधारे थे, यह कहते सुना था कि—"ये बड़े भारी महात्मा हैं। इनके पास पाँच मन हीरा, मोती आदि रत्न हैं। इनके सभी बर्तन ठोस सोने के और जड़ाऊ हैं, ये राजा-महाराजाओं को भी ख़रीद सकते हैं, इनके पास एक करोड़ की लागत का सिंहासन है, जिस पर भगवान् रामचन्द्र की मूर्ति रहती है, इत्यादि।" उक्त धर्माध्यक्ष महोदय की महत्ता का मापदंड है सोना, रत्न, अतुल धन, विशाल धूमधाम। इस तूफ़ान के भीतर भी धर्माचार्य महोदय के पास बहुत कुछ है, पर उस सत्य को गर्द-गुबार ने छिपा रखा है। स्वामी महाराज का दुर्दमनीय पांडित्य, उनकी अलौकिक तपश्चर्या, सुख-भोग का विराग अर्थात् राजयोग कम महत्त्व

की बात नहीं है; पर सर्वसाधारण और उनके बीच में विभाजक रेखा खींचनेवाली यही उनकी दिखावट है, जो एक निर्जीव प्रदर्शन मात्र है। महात्माजी ने दरिद्रों का जीवन क्यों अपनाया ? क्या यह बात सही नहीं है कि राजसी शानशौकत इन्हें सर्वसाधारण से दूर कर देती और वे कुर्सी-तोड़ नेता मात्र रह जाते। जो सर्वसाधारण के लिए ही संसार में आया है, उसे विश्वमहामानव के मेले में मिल जाने योग्य रूप अङ्गीकार करना ही पड़ेगा। मैं रोम के इस महान् धर्माचार्य को एक अत्यन्त साधारण नागरिक के रूप में देखता हूँ। साधारण-से-साधारण अँगरेज़ जनता के बीच में बैठ जाने पर कोई भी यह अनुमान ही नहीं कर सकता कि अमुक सज्जन धर्माध्यक्ष और एक प्रगाढ़ विद्वान् हैं। न साधारण अँगरेज़ जनता ही यह सोच सकती है कि हमारे बीच में बैठा हुआ अमुक व्यक्ति हमसे बहुत ही उच्च, महान्, आदरणीय और श्री-सरस्वती-सम्पन्न धर्माध्यक्ष है। जनता के कल्याणार्थ काम करनेवाले को जनता-जनार्दन में एकाकार हो जाना पड़ेगा। तिल-तण्डुल न्याय से काम नहीं चलने का।

पोप साहब साधारण कपड़े की पतलून और काले और मोटे कपड़े का लम्बा-सा चोगा पहने हुए हँस रहे थे। गले में उजला कालर चमक रहा था। उनके सिर के बाल बराबर कटे हुए थे। बात-ही-बात में आपने महात्माजी की अछूतोद्धार-योजना की चर्चा चलायी। मैं उसका राजनीतिक पहलू आपके सम्मुख स्पष्ट करना चाहता था और वे उसे शुद्ध धार्मिक रूप में स्वीकार कर रहे थे। आपने कहा—"पंडितजी, आप अछूतोद्धार-योजना को राजनीतिक रूप मत दीजिये। राजनीतिक वायुमंडल में रहने के कारण आप लोगों का स्वभाव ही सन्देहपूर्ण हो गया है। किसी दिन आप अपने धर्म को भी राज-नीतिक जीवन का एक अङ्ग मान लेंगे।"

मैंने कहा—आपका कथन ठीक है; पर मैं तो समझता हूँ कि महात्माजी ने सात करोड़ मुसलमान भाइयों के अभाव पर, अछूत शक्ति को ऊपर उठाकर उसे मिटाने का प्रयत्न किया है। सरकार ने गोलमेज सभा में डा० अम्बेडकर नामक किसी सज्जन को बलपूर्वक अछूतों का नेता बनाकर इस अछूत-शक्ति को अपनाने का प्रयत्न किया; पर महात्माजी ने इस गहरी कूटनीति का जवाब दिया दूसरे ही रूप में। उन्होंने आगे बढ़कर अपने बिछुड़े हुए भाइयों का स्वागत किया और इस प्रकार देश के उपयोग की. उलटी दिशा में बल-पूर्वक घसीटी जानेवाली, इस शक्ति को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। महात्माजी की घोषणा के बाद किसी में भी इतनी हिम्मत नहीं रह गयी, जो अछूतोद्धार-आन्दोलन को कोई राजनीतिक आन्दोलन कहे; पर बात कुछ ऐसी ही है जैसा कि मैं कह रहा हूँ। पृथक् निर्वाचन और संयुक्त निर्वाचन की खींचातानी मेरे तर्क की पुष्टि करती है। महात्माजी अछूतों को हिन्दू-जाति के अन्तर्गत मानते हैं और सरकार ने इसके लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की थी, जैसे ग़ैर हिन्दुओं के लिए की गयी है। इस विभाजक रेखा को महात्मा जी पसन्द नहीं करते।"

अब पोप साहब कुछ चिन्ता में पड़ गये। अन्त में आपने कहा कि—"आप इस आन्दोलन को धार्मिक—विशुद्ध धार्मिक—आन्दोलन ही क्यों नहीं मान लेते! इसमें आपकी क्या हानि है?"

मैंने पोप साहब के कथन को स्वीकार करके इस प्रसङ्ग का अन्त कर दिया। फिर चाय का दौर चला और रकाबियों में मेवा भी लायी गयी। मैंने भी मेवे की रकाबियों को ख़ाली करने में अपने अँगरेज़ मित्रों को सहायता पहुँचायी। दिन चढ़ गया था। घड़ी ने १० बजने की सूचना दी। मैं पोप साहब से विदा हुआ। कल बुद्ध-गया चलने

का विचार पक्का हुआ। मेरे लाख मना करने पर भी आप मोटर तक मुझे पहुँचाने आये। श्रीमती वेकफील्ड ने चलते समय मुझे बहुत-सा मेवा एक रूमाल में बांधकर दे दिया, जिसे रास्ते भर मैं चबाता आया। कितने मधुर थे वे दाख, बादाम, पिश्ता, अखरोट—वाह! मेरी प्रज्वलित जठराग्नि ने श्रीमती वेकफील्ड को अनेक आशीर्वाद दिये। मि० वेकफील्ड को मेरे पेट की ओर ध्यान देने की चिन्ता नहीं थी; पर मातृहृदया श्रीमती वेक्फील्ड के द्वारा ऐसी भूल होना असम्भव है। स्त्री-हृदय जो ठहरा।

(३)

"बुद्धगया कैसा है बाबू, वह काटता तो नहीं?" मेरी शारदा बिटिया ने मेरी बुद्ध-गया-यात्रा का संवाद सुनकर पूछा। मैंने कहा—"बच्चों को काटता है, मुझे नहीं काटेगा।" मेरी प्रत्युत्पन्नमति कन्या ने कुर्सी पर चढ़कर कहा—"अब तो मैं तुम्हारे जितना हो गयी। मुझे भी ले चलो।" अनेक यत्न से मैं उसे समझाकर हार गया; पर सारी चेष्टाएँ विफल हुई। लाचार मैंने दो-चार पैसे और मासिक पुस्तकों के कुछ चित्र देकर गला छुड़ाया। स्वयम् मि० वेकफील्ड पोप साहब के साथ मोटर लेकर मुझे लेने आये थे। वे तो अपनी कोठी पर लौट गये और मैं पोप साहब के साथ बुद्ध-गया की ओर चला।

पोप साहब नास्तिक दर्शनों का अध्ययन करना चाहते थे। आपने कहा—"आप ईश्वर को मानते हैं?" मैंने कहा—"मानता तो हूँ; पर कभी-कभी नहीं भी मानता।" "सो क्यों"—पोप साहब बोले। मैंने कहा—"सुनिये, ईश्वर हताश मन का एक अचल-सहारा है। जब सांसारिक आघातों से हमारी बुद्धि की स्थिरता मिट जाती है, तब हमारी आत्मा हाहाकार कर उठती है,

उसी समय ईश्वर आगे बढ़कर हमारा हाथ पकड़ता है। अपने भीतर दिव्य शान्ति और स्थिरता का अनुभव करते हैं इससे आप यह न समझ लें कि शान्ति के अवसर पर ईश्वर को न मानना ही अच्छा है। हमारे दार्शनिकों ने सुख-दुःख का जो विवेचन किया है, वह मिथ्यावाद को लेकर। अपनी आदत ही कुछ ऐसी पड़ गयी है कि सुख को सुख और दुःख को दुःख मान ही बैठते हैं। ईश्वर-प्रेरित बुद्धि से निर्लिप्त होकर जीवन-यात्रा के यात्री को सुख-दुख का झंझट उठाना नहीं पड़ता। वह जीवन-मुक्त अवस्था में पहुँचकर अपार शान्ति का अनुभव करता है। ईश्वर में एक गुण यह भी है। बौद्ध दार्शनिकों ने दुःखवाद पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। वस्तुतः संसार दुःख से बचने और सुख प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। ईश्वरार्पण-पूर्वक किसी काम के बनने बिगड़ने का मोह हृदय में नहीं व्यापता।"

पोप साहब बोले—"यह तो गीता का सिद्धांत है। गीता मेरी अत्यन्त प्रिय पुस्तक है। मैं सदा गीता का मनन करता हूँ। गीता के सिद्धांतों को जीवन में अमल करने से अपार सुख की प्राप्ति होती है। मैं गीता की एक व्याख्या लिख रहा हूँ। प्रकाशित होने, पर उसकी एक प्रति भेजूँगा। सम्मति लिखियेगा।"

मैंने कहा—"मैं सम्मति लिखने का अधिकारी नहीं हूँ। किसी अधिकारी विद्वान् की सम्मति लीजिये।" वे बोले—"एक भारतीय होने के नाते आप एक विदेशी की लिखी हुई गीता की व्याख्या पर सम्मति देने के योग्य अधिकारी हैं; क्योंकि वह आपकी अपनी चीज़ है। आप उसे अच्छी तरह समझते होंगे।"

हाय री पोप साहब की सरलता! वे नहीं जानते कि हमारे जैसे भारतीय कान्ट की फ़िलासफ़ी पढ़ते हैं, मार्क्स के सिद्धान्तों को प्यार

करते हैं, मैक्समूलरकृत वेदों की व्याख्या का अध्ययन करते हैं। सायण आदि हमारे सामने तुच्छ हैं। वे नहीं जानते कि "अभिज्ञान शाकुन्तल" को हमने गेटे आदि विद्वानों की प्रशंसा करने के बाद पहचाना। वे भारतीय अब कहाँ हैं, जो अपनी आँखों से अपने घर की चीज़ों को देखें, पहचानें। खान में रत्न की क़द्र कहाँ होती है। वह तो बाज़ार का वैभव है, जौहरियों के आदर की सामग्री है।

हम बुद्ध-गया पहुँच गये। मोटर से उतरकर पोप साहब ने बुद्ध-मन्दिर को सभक्ति प्रणाम किया। फिर आत्मविभोर होकर वे उस महायोगी के सिद्ध-स्थान को देखने लगे, जिसने समस्त संसार पर भारतीयता की महत्ता की छाप लगा दी थी।

कोई १२ बजने का समय था। पूस की सुनहली धूप सर्वत्र फैली हुई थी। तिब्बत, बर्मा, भूटान आदि के शत-शत बौद्ध भगवान् शाक्यसिंह की तपस्थली के दर्शन कर रहे थे। सर्वत्र चहल-पहल थी; पर दिव्य शान्ति के साथ। काषाय वस्त्रधारी भिक्षुओं का दल इधर-उधर घूम रहा था। हज़ारों वर्ष की पुरानी स्मृति मानों आज साकार रूप में लौट आयी थी। बौद्ध-युग का एक मनोरम दृश्य आँखों के आगे घूम गया।

पोप साहब स्वस्थ होकर बोले—"किसी दिन यह दुर्गमवन रहा होगा और यह निश्चय ही पहाड़ी टीलों का निर्जन स्थान रहा होगा। भगवान् शाक्यसिंह यहाँ बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए व्याकुल भाव से आये होंगे, जैसे कोई अपने बहुत दिन से बिछुड़े रहनेवाले मित्र से मिलने जाता हो। वह दिन भी कितना मनोरम होगा, संसार के लिए कितना शुभ होगा !"

वे मानों भावावेश में बोल रहे थे। और न जाने क्या-क्या बोल गये। पर मैं कुछ दूसरे ही विचारों की हवा में उड़ रहा था। मैं

सोच रहा था मनुष्य के साथ प्रकृति की हाथापाई की बात। प्रकृति के रूप को कभी-कभी हम बनाने के स्थान पर बिगाड़ डालते हैं। इसी बुद्ध-गया को लीजिये। भगवान् बुद्ध की तपस्थली का नामो-निशान मिटाकर मनुष्य ने स्मृति-रक्षा का प्रयत्न किया है। यदि भगवान् की यह तपस्थली असली सूरत में रहती—अपने प्राकृत सौन्दर्य के आवरण में—तो उसका प्रदर्शन अधिक भावव्यंजक होता। जहाँ वन था, पहाड़ी दर्रा था, बड़े-बड़े पुराने वृक्ष हवा में हरहराया करते थे, वहाँ आज हमने अपने दिवालिये बुद्धिवाद का नमूना खड़ा कर दिया। विशाल मन्दिर, गेस्ट हाउस, सुन्दर सड़क, तालाब, बाग़! यह प्रकृति के साथ हाथापाई करना है। भगवान् बुद्ध की तपस्थली का रूप हमने अपने श्रद्धापूर्ण हाथों से मिटा दिया और इन मन्दिरों, चैत्यों, सड़कों का जाल बुनकर कहते हैं कि "यही है भगवान् बुद्ध की तपस्थली।" स्मृतिरक्षा का यह प्रयत्न तो स्मृति-विनाश के ही रूप में संसार के सामने आया।

पोप साहब की सम्मति मेरी सम्मति से मिल गयी। यदि वे ही चट्टान, ऊबड़-खाबड़ वनस्थली, जङ्गल, आज भी रहते, तो भगवान् बुद्ध की तपस्थली के दर्शन हम अधिक पूर्णता के रूप में कर पाते।

(४)

भिखमङ्गों का एक छोटा-सा दल हमें घेरकर खड़ा हो गया। इस दल के सभी भिखमङ्गे दयनीय नहीं थे। कुछ भले-चंगे और स्वस्थ थे, जो आसानी से उद्योग करके पेट चला सकते थे। कुछ अन्धे थे और कुछ अपंग। नंगे-नंगे बच्चे भी थे, जिन्हें घेरकर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। इन नंगे बच्चों का शरीर धूलि-धूसरित था और इनके हाथ मैले और फटे हुए थे। किसी-किसी बच्चे के कान पर जली हुई एकाध बीड़ी भी थी, जिसे किसी ने

पीकर रास्ते पर फेंक दिया होगा। सभी एक स्वर से पैसे माँग रहे थे। प्रत्येक भिखारी दूसरे को ढकेलकर आगे आना चाहता था। हमें परेशान देखकर एक हट्टा-कट्टा मनुष्य आगे बढ़ा, जो सूरत से 'साधु' जान पड़ता था। इसके गले में रुद्राक्ष के बड़े-बड़े दाने लटक रहे थे। इसने भिखारियों को गालियाँ देकर खदेड़ा और वह स्वयम् आगे बढ़कर विजयी वीर की तरह खड़ा होकर बोला—"जय हो अन्नदाता की।"

पोप साहब ने मुझसे पूछा—"यह क्या हुआ! मैं तो समझ रहा था कि यह हमारी शान्ति का रक्षक है; पर यह तो स्वयम् एक भिखारी निकला।" "जय हो अन्नदाता की"—मेरी परिचित टेर है। इस जय-ध्वनि के माने स्पष्ट हैं। मैंने पूछा—"तुम्हें क्या चाहिये।" उसने अपना मैला कुरता हटाकर पेट ठोंका और कहा—"सरकार इसे भर दीजिये।" फिर हलवाई की दूकान की ओर उँगुली उठाकर बोला—"तीन पाव गरमागरम जलेबियों से आत्मा तृप्त हो जायगी। सरकार के बाल-बच्चों की ख़ैर भगवान् करेंगे।" इतना बोलकर उसने अपनी उस चौड़ी हथेली को हमारे आगे फैला दिया, जो दिनभर तम्बाकू खाने के कारण घिनौनी और लाल हो गयी थी। उसके कपड़ों से गाँजे और तम्बाकू की भयानक दुर्गन्ध आती थी।

न केवल बुद्ध-गया में ही; बल्कि हम सर्वत्र ऐसे भिखमंगों की बहुलता पाते हैं, जो देश की दरिद्रता की घोषणा करते फिरते हैं। मैं यहाँ पर न तो भिखारी-सम्प्रदाय की स्थिति की आलोचना करना चाहता हूँ और न देश की दरिद्रता की। कला की दृष्टि से देखने पर मुझे विश्वास हो गया है कि हमारे भिखारियों ने माँगने की कला को भुला दिया है। कलापूर्ण रीति से भीख माँगना उतना बुरा नहीं है। एक "तीन पाव गरमागरम जलेबी" खाने की कामना प्रकट करनेवाले

सज्जन से मैंने पूछा—"भीख माँगना तुम क्यों पसन्द करते हो ? कुछ काम करके क्यों नहीं सम्मान-पूर्ण जीवन व्यतीत करते।" उसने कहा—"सरकार हम साधु-महात्मा आप लोगों की जय, महादेव बाबा से, मनाते हैं और वे ही भोलानाथ रोटी देते हैं। हम काम करना क्या जानें !"

जब तक मैं उससे बातें कर रहा था, तब तक पोप साहब ने अपने उस नन्हें से केमरे से, जिसे वह गर्दन में लटकाये हुए थे, इस भिखारी समुदाय का एक चित्र खींच लिया। मैंने कहा—चलो विलायती पत्रों को भारत के गुणगान करने का थोड़ा-सा मसाला मिल गया !

भगवान् बुद्ध की इस तपस्थली में पहुँचकर पोप साहब ने अतीव आनन्द का अनुभव किया। वे बौद्धदर्शन पर लगातार बोलते और प्रश्न करते रहे। मैंने अनुभव किया कि आप बौद्धदर्शन के एक अच्छे ख़ासे जिज्ञासु हैं। शून्यवाद के आप विरोधी हैं। आपने शून्य-वाद के प्रतिकूल अनेक तर्क उपस्थित किये। महायान-सम्प्रदाय का साहित्यपोप साहब ने काफ़ी पढ़ा है। हीनयान के प्रति आपके हृदय में श्रद्धा देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। महायान-सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म का आधार माना गया है। तान्त्रिक युग को मैं अत्याचारों का और विनाश का युग समझता हूँ। सच पूछिये तो इसी युग ने बौद्ध धर्म का झंडा गिरा दिया। हीनयान-सम्प्रदाय को पोपसाहब शायद इसीलिये प्यार करते हैं कि इस सम्प्रदाय में देवी-देवताओं को स्थान दिया गया है और पूजा-पाठ, यन्त्र-तन्त्र, को भी पर्याप्त प्रश्रय मिला है। ईश्वर-विरोधी तर्कों को एक धर्माचार्य कैसे स्वीकार कर सकता है, चाहे वे तर्क कितने ही सबल और बुद्धिगम्य क्यों न हो। यहाँ के घूम-घूम करके मन्दिर दिखलानेवाले प्रदर्शकों को भी 'पुरस्कार' की बुरी लत लगा दी गयी है। आप चाहे इन्हें कुछ न दें; पर इनकी कातर

मुखमुद्रा और लम्बी सलाम में कुछ ऐसा आकर्षण है कि बरबस हाथ पाकेट में चला ही जाता है। दो-तीन अमेरिकन यात्री भी इधर-उधर घूम रहे थे, जिनके साथ दो सुन्दरियाँ भी थीं। उन सुन्दरियों ने अपने साथियों को बनाना शुरू किया। वे बेमन से इधर-उधर घूम रही थीं। ओपेरा हाउसों की इन रानियों को भला भगवान् बुद्ध की इस कठोर तपस्थली में क्या रस मिल सकता था? पोपसाहब इन्हें देखकर हँसने लगे। आपने पूछा—"इनके प्रति आपके कैसे विचार हैं?"

मैंने कहा—"दयापूर्ण।" पोप साहब ने पूछा—"क्यों?" मैंने कहा—"ये भौतिक जगत् के समर्थक हैं। इनके दिमाग़ में सुख का जो रस सड़ रहा है, उसमें कीड़े पड़ने को बाक़ी हैं। फिर ये अपनी दुर्गन्ध से स्वयम् अधमरे हो जायँगे। मैं इन्हें दयनीय जीव समझता हूँ।"

हँसते-हँसते पोप साहब विकल हो गये। मेरा मन इतना खिन्न था कि हँसी के स्थान में मेरे हृदय में झुँझलाहट पैदा हो रही थी, फिर भी हँसने का नाट्य मुझे भी करना पड़ा। सभ्यता का उल्लंघन कैसे किया जा सकता है, चाहे आत्मा के साथ व्यभिचार ही क्यों न करना पड़े!

मैं सभ्य समाज के एक ऐसे नवाब को जानता हूँ, जो शराब पी लेने के बाद अपने ही हाथों से अपने सिर पर अनगिनत जूते लगाता है। एक बार मैंने उसे कहा कि "यार, अपने नौकरों को क्यों नहीं आज्ञा दे देते कि जब तुम नशे में रहो, तब वे तुम्हें जूतों से ख़ूब ठीक करें!" उसने कहा—"हाँ, बात तो ठीक है; पर तुम यह नहीं जानते कि अपने हाथों से जब मैं अपने ही सिरपर जूते लगाता हूँ, तब मेरी आत्मा को चोट लगती है और जब दूसरे मुझे जूतों से ठीक करेंगे, तब मेरे शरीर को चोट लगेगी।"

बात सही है। जो हो, अपनी आत्मा को दण्ड देनेवाले मेरे यह नेक मित्र फिर भी पीना बन्द नहीं करते। यही दशा है हम सभ्यताभिमानियों की। लगातार आत्मा पर प्रहार करते हुए भी हम अपनी करनी से बाज़ नहीं आते। पहले हम आदत को बनाते हैं फिर वह हमें अपने साँचे में ढाल लेती है; इस प्रकार हम अपने ही जाल में फँसकर समाप्त हो जाते हैं। यह मनोविज्ञान का एक ऐसा प्रधान प्रश्न है, जिसका उत्तर करोड़ों पृष्ठ काग़ज़ रँगने पर भी शायद ही दिया जा सकता है। हम किसी दिन चले जायँगे और दुनिया जहाँ-की-तहाँ बनी ही रहेगी। जिसे आज हम इस वर्तमान युग का कुप्रभाव कहते हैं, वह पहले भी था और सम्भवतः भविष्य में भी रहे। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसके नाम और रूप में अन्तर पड़ सकता है। यह संसार ही जब परिवर्तनशील है तब फिर हमारी क्या हस्ती है ?

हम बोधिवृक्ष के नीचे पहुँचकर रुके। यहाँ घी का पनाला बह रहा था। बाहर से आनेवाले बौद्ध दर्शनार्थी यहाँ हज़ार-हज़ार घी के दिये जलाकर अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। कुछ तिब्बती अपनी भाषा में स्तुति कर रहे थे और कुछ अनगिनत दण्डवत्-प्रणाम। पोप साहब इनके चित्र लेकर आगे बढ़े।

हम मन्दिर से बाहर निकले तो एक चीनी कुबड़ा, जिसकी ठुड्डी पर, दाढ़ी के नाम पर, कुछ बाल हवा में उड़ रहे थे, सामने आया। यह चीनी कई वर्ष से यहीं रहता है। भिक्षा इसकी जीविका है। "अरेबियन नाइट" में अलाउद्दीन के चिराग़ की कहानी मैंने पढ़ी थी। इस कहानी में एक जादूगर का चित्र मैंने देखा था। चीनी की सूरत उसी जादूगर-सी मिलती-जुलती देखकर मैं हँस पड़ा। यह न तो हिन्दी जानता है और न अँगरेज़ी। एक कोष के सहारे, जो चीनी, हिन्दी और अँगरेज़ी का त्रैभाषिक कोष है, इसका काम चलता है। दो-चार

शब्द हिन्दी और अँगरेज़ी के बोलता है; पर उच्चारण है इसका चीनी।
'पैसा' को "पेइआँ" कहता है। यह पोप साहब के गले का हार हो
गया। कोई आधे घण्टे तक यह हमारी खोपड़ी चाटकर, एक रुपया
लेकर, विदा हुआ। हमारी आज की यात्रा साहित्यिक दृष्टि से
गद्य-ही-गद्य थी, यह चीनी पद्य के रूप में हमारे सामने आया।
मन की सारी थकान मिट गयी। यह एक हाथ में सफ़ेद काँच का
माला लिये हुए था और दूसरे हाथ में एक लम्बे से धागे में कुछ
मनके गुँथे हुए थे। इन मनकों की संख्या १०० से ऊपर थी।
कुछ मनके नीचे और कुछ ऊपर बँटे हुए थे। मैंने इस माला को
लेकर मनकों को एक जगह कर दिया। बेचारा यह चीनी आपे से
बाहर होकर लगा चिल्लाने और सिर पीटने। मैं तो बुद्धिहत-सा हो
गया। इसने अपनी भाषा में न जाने क्या-क्या कहा! अनेक
प्रयत्न करके इसने मुझे समझाया कि प्रत्येक हज़ार जपपर वह
एक मनका ऊपर कर देता है। यह माला जप की संख्या का हिसाब
रखती है। मैंने सभी मनकों को एक जगह एकत्र करके इसके जप
की संख्या में अव्यवस्था पैदा कर दी। इसके जप की संख्या में
गड़बड़ी पैदा कर देने के दण्ड-स्वरूप मुझे भी चार आने पैसे देने
पड़े। पैसे पाकर भी वह प्रसन्न नहीं हुआ। खिन्न मन से पैर पटक-
पटककर वह मुझे कोस रहा था। यदि मैं इसकी भाषा समझ सकता,
तो निश्चय ही पैसे पाने के स्थान पर इसे कुछ शारीरिक कष्ट उठाना
पड़ता; क्योंकि इसके चिल्लाने का अर्थ तो नहीं, पर भाव स्पष्ट था।
वह अवश्य ही अवाञ्छनीय भाषा का प्रयोग कर रहा था। कोई
आध घण्टे तक पर्याप्त उछल-कूदकर जब चीनी देवता थक गये, तो
मेरे सामने माला पटककर चलते बने।

यदि इसका वश चलता, तो यह एक ही हुंकार में मुझे भस्म

कर देता, या मेरे शरीर को अणु-परमाणु के रूप में ही परिणत कर देता। पोप साहब तो यह लीला देखकर ऐसे हँसे कि उनका दम फूलने लगा। अन्त में आठ आने पैसे देकर मैंने उसके मन का अव-साद दूर किया। तब तो वह इतना प्रसन्न हुआ कि मुझे तिब्बती अगुरु-धूप बत्ती का एक नन्हा-सा बंडल दिया और दिया एक बरमा चुरुट। अनेक धन्यबाद देकर हम विदा हुए।

दीपङ्कर श्रीज्ञान 'विक्रमशिला' के महान् पण्डित थे। आपने तिब्बत जाकर वहाँ बौद्धधर्म का झंडा ऊँचा उठाया था। इन महा पंडित के सम्बन्ध में पोप साहब कहीं से एक अधूरा नोट ले आये थे। सातवीं सदी में प्रख्यात यात्री 'इत्सिंग' और 'ह्वेनसांग' आया था। उस समय 'विक्रमशिला' थी या नहीं, यह पता नहीं। क्योंकि उसने अपने यात्रा-विवरण में इस महाविद्यालय का नाम नहीं लिया है। पर नालंदा-विश्वविद्यालय में इन यात्रियों ने अध्ययन किया था। तिब्बत के इतिहासज्ञ तारानाथ के कथनानुसार 'विक्रमशिला' के आचार्य प्रसिद्ध नालन्दा की देख-रेख करते थे, जिनमें आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान भी थे। संस्कृत के विख्यात ग्रन्थ 'स्रग्धरास्तोत्र' की टीका तथा 'वृहत्-स्वयंभु-पुराण' में विक्रम-शिला-की चर्चा मिलती है। ईस्वी सन् १०३४ या १०३८ के लगभग दीपङ्कर श्रीज्ञान के प्रौढ़ हाथों में 'विक्रमशिला' का कार्य-भार था। ये बङ्गदेशीय विद्वान् थे और इनका जन्म गौड़ राजघराने में होना प्रमाणित होता है। सन् ९८२ में ये धरातल पर पधारे थे। महापण्डित 'जेतारि' इनके गुरु थे। वहीं इन्होंने हीनयान और महायान का गम्भीर पांडित्य प्राप्त किया था। आचार्य दीपङ्कर को तिब्बत बुलाने के लिए तत्कालीन तिब्बत-सम्राट् येशे-ओ ने 'गुङ्-थङ्-पा' नामक कुशल राजदूत को भेजा था। तिब्बत में तेरह वर्ष रहकर दीपङ्कर श्रीज्ञान ने वहीं ऐहिक लीला को समाप्त

किया। आपके लिखे ग्रन्थों में श्रेष्ठ ग्रन्थ है—'बोधिपथप्रदीप।' दीपङ्कर श्रीज्ञान १०५४ के लगभग बीच तिब्बत पहुँचे थे। राजभिक्षु ज्ञान-प्रेम ने इन्हें बुलवाया था। इनके बाद काश्मीरी पण्डित सोमनाथ गये। तिब्बत के धार्मिक युग के एक भाग को दीपङ्कर-युग कहना अत्युक्ति नहीं होगी। पोप साहब जो नोट अपने साथ लाये थे, उसमें कई भ्रम-पूर्ण बातें लिखी थीं। जैसे—वैशाली (बसाढ़—मुजफ्फरपुर) के कायस्थ विद्वान् गयाधर का दीपङ्कर के पहले तिब्बत जाना और 'बुद्धकपाल-तन्त्र' का अनुवाद "शि-वडोद" की सहायता से करना। यह "शि-वडोद" ज्ञानप्रभ का भाई था। "सर्वाड-डोद् सर" के साथ इसका अनुवाद किया था। मैंने यथामति आपके नोट में सुधार कर दिया। उस सरलहृदय विदेशी विद्वान् ने इसके लिए आभार प्रकट किया। आपको मैंने सम्मति दी कि आप बौद्धसाहित्य के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए राहुल सांकृत्यायनजी से मिलें। खेद है कि उन दिनों राहुल बाबा कहाँ थे, यह मुझे मालूम नहीं था। पता बतलाने के अवसर पर मुझे मूक रह जाना पड़ा। बेचारे पोपसाहब भी हाथ मलकर रह गये।

(५)

"कर दिया साबित कि दुनियाँ गोल है।"

हम फिर जहाँ से चले थे, वहीं लौटकर आ गये। मि० वेक-फील्ड हमारी प्रतीक्षा में बैठे थे। दुपहरी हो गयी थी। गरम भोजन पानी-पानी होना चाहता था। अतिथिभगवान् को बाद देकर साहब कैसे मेज़ पर जाते। पोपसाहब भी भूख के मारे विकल हो उठे थे और मेरा हाल मत पूछिये। ब्राह्मण की जठराग्नि बढ़ी। वह दावाग्नि बनकर मेरे मुँह, नाक तथा आँखों के रास्ते से भभकना चाहती थी। 'भोजन' शब्द कानों में पड़ते ही जीभ

चटख़ारे मारने लगती थी। जी करता था किसी ख़ोमचेवाले का ख़ोमचा लूट लूँ, या हलवाई का डगरना। सन्ध्या समय मिलने का प्रण करके घर की ओर भागा।

❀ ❀ ❀

पोरसाहब पटना जाना चाहते थे। सन्ध्या समय हम स्टेशन पहुँचे। पटने की गाड़ी तैयार थी। आपने दूसरे दर्जे का टिकट ख़रीदा और घुसे तीसरे दर्जे में। मैं चकित होकर आपका यह कार्य देखता रहा। तीसरा दर्जा बेतरह भरा हुआ था। जाड़े के दिन, फिर भी वहाँ ऊमस पैदा हो गयी थी। ठसाठस यात्री भरे हुए थे। स्त्री और बच्चों की बुरी दशा थी। दम घुट रहा था। किसी ने गाड़ी के फ़र्श पर थूक दिया था, तो किसी ने नाक छिड़क मारी थी। गंदे कपड़ों और तम्बाकू की भयानक बदबू से हवा विषैली बनी हुई थी। पोरसाहब तुरन्त गाड़ी से बाहर निकले और बोले—"पंडितजी, देखिये यहाँ कितनी गन्दगी है। सफ़ाई का किसी को भी ख़्याल नहीं है। लोग स्वयं भी बड़े गन्दे हैं। स्वयम् गन्दा रहनेवाला व्यक्ति स्वभावतः गन्दी हरकतें करता है। सफ़ाई की ओर ध्यान नहीं देता।"

जो धनी देश और सुखी सम्प्रदाय के पर्यटक हमारे यहाँ हैं, वे ऊपर-ऊपर की चीज़ें देखकर अपनी धारणा ठीक करते हैं। वे नहीं समझते कि भारत की गन्दगी, भारत की दरिद्रता का कारण-रूप नहीं है, यह तो परिणाम है। कारण, कार्य और परिणाम में अन्तर रहता है। भूकम्प किसी अदृश्य कारण का कार्य है और विशाल धन-जन की हानि परिणाम! हमारे पर्यटक परिणाम को ही कारण, कार्य और परिणाम मान बैठने की जो भूल करते हैं, उसका नतीजा होता है संसार के कोने-कोने में हमारी बदनामी!—और वह भी निष्ठुरता और अज्ञानता-पूर्वक फैलायी गयी हमारी बदनामी!!

पाप से पाप का समर्थन नहीं होता। जो निन्दक की निन्दा करते हैं, वे तर्कशास्त्र की हत्या करते हैं। इस तरह वे निन्दक को भी अपनी ही स्थिति में पहुँचा देते हैं; परनिन्दा की बात तो जहाँ-की-तहाँ रह जाती है। मैं भी पोपसाहब के देश की निन्दा जीभर कर सकता था; बल्कि गन्दगी की अनिवार्यता प्रमाणित करके उसका समर्थन ही कर डालता। मैंने प्रयत्न किया कि पोपसाहब को अपनी सच्ची स्थिति का ज्ञान प्राप्त करा दूँ; पर अब समय कहाँ था!

गाड़ी आगे बढ़ने को तैयार थी। बातों में समय नष्ट न करके मैंने विदाई के आवश्यक नियम का पालन कर लेना ही उचित समझा। हम भारतीय की तरह गले मिले और फिर पुनः मिलने की शुभकामना प्रकट करके विदा हुए। मैंने देखा कि पोपसाहब की पलकें भींग गयीं थीं। इस अल्प काल में ही हम एक दूसरे के कितने निकट आ गये थे!

इसके बाद?

लिखते हृदय काँप उठता है। इसके बाद आया १५।१।३४ का प्रलयकाल। भयानक भूकम्प बूढ़ी वसुधा के अस्थिपंजरों पर ताण्डव नर्तन करके अपना आतङ्क करोड़ों हृदय पर छोड़ गया। उन दिनों पोप साहब कुर्सियांग के सेंट मेरी कालेज में ठहरे हुए थे। आपने १७।१।३४ को जवाबी तार दिया। लिखा—"सपरिवार यहाँ चले आओ। आवश्यकता हो तो मैं आऊँ। कुशल समाचार दो।"

हजारों मित्रों में सबसे पहले मेरी सुधि लेनेवाले अकेले पोप साहब थे, जिनसे मेरा क्षणिक परिचय था और जब तक हम एक साथ रहे, प्रायः सैद्धान्तिक मतभेद बना ही रहा। वे मेरे सम्मुख सदा एक विदेशी आलोचक बने रहे और मैं एक ठोस भारतीय उत्तर-दाता बना रहा। फिर मेल कैसा!

समय चला गया। स्मृति समय की बाँदी नहीं है। वह समय की रेखा पर पैर रखकर नहीं चलती। इस छबीली का रूप नित नूतन है। आज भी मेरी आँखों के सामने १३।१।३४ का लुभावना रूप सुखस्वप्न की तरह नाच उठता है। शान्त, गम्भीर सौम्य, सहृदय विद्वान् पोप टूरूस दि ७ का स्मरण करके आज भी मैं आनन्द-विभोर हो उठता हूँ।

मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी भाषा अपूर्ण है। प्रयत्न करके भी मैं सत्य को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सका। कारण, मेरी कल्पना बोलने लगती है!

लेखक की अन्य कृति

विचार-धारा

—इसमें राजनीति और समाजनीति पर लेखक ने अपने गम्भीर विचार प्रकट किये हैं।

—इसमें जनसाधारण की उन मननशील बातों, भावनाओं और समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है, जिनकी पूर्ति की आवश्यकता आज प्रत्येक जागरूक व्यक्ति अनुभव करता है।

व्यवस्थापिका—साहित्य-निकेतन

दारागंज, प्रयाग

[illegible], [illegible] के [illegible] प्रेस, इलाहाबाद में छपा